ISSN: 2395-7852

International Journal of Advanced Research in Arts, Science, Engineering & Management (IJARASEM)

Volume 11, Issue 3, May-June 2024

INTERNATIONAL STANDARD SERIAL NUMBER INDIA

IMPACT FACTOR: 7.583

| www.ijarasem.com | ijarasem@gmail.com | +91-9940572462 |

International Journal of Advanced Research in Arts, Science, Engineering & Management (IJARASEM)

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 7.583 | Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 11, Issue 3, May-June 2024 |

आदिवासी विमर्श: सामाजिक सरोकार

INDRAJEET YADAV

ASSISTANT PROFESSOR, HINDI, SHRI DHARAMCHAND GANDHI JAIN GOVT. COLLEGE, BEHROR, DISTRICT-KOTPUTLI-BEHROR, ALWAR, RAJASTHAN, INDIA

सार: आदिवासी विमर्श भी आदिवासी अस्मिता की पहचान, उसके अस्तित्व संबंधी संकटों और उसके खिलाफ जारी प्रतिरोध का साहित्य है। यह देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति भेदभाव का विरोधी है। यह जल, जंगल, जमीन और जीवन की रक्षा के लिए आदिवासियों के 'आत्मनिर्णय' के अधिकार की माँग करता है।

परिचय

भारत में आदिवासियों के कई समुदाय व क्षेत्र पाए जाते हैं। संवैधानिक रूप से इन्हें जनजाति सामान्य रूप से आदिवासी, गिरिजन, जंगल वासी व अंग्रेजी में ट्राइब नाम से जाना जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ जनजातियों को 'इंडिजीनस पीपुल्स' यानी 'स्वदेश लोग' कहती है। ये आदिवासी लोग प्रकृति के बीच रहना अधिक पसंद करते हैं। दुर्भाग्यवश खनिज आदि संपदा होने के कारण इन्हें इस वैश्वीकरण के दौर में वहाँ से भी खदेड़ा जा रहा है। वैसे तो "प्राचीन काल में इनका भूमि पर अधिकार था परंतु धीरे-धीरे आधुनिक सभ्यता ने उन्हें केवल वनवासी भ्रमणक जैसा ही बना दिया तथा इनके भूमि संबंधी अधिकार को छीन लिया।"[1] इन्होंने पारिस्थितिकीय तंत्र के अनुरूप ही अपनी जीवन शैली विकसित की है। आदिवासियों ने अलग-अलग समुदाय, अलग-अलग सामाजिक, सांस्कृतिक रूप से जीवन जीना प्रारंभ किया इसलिए इनके रीति-रिवाज सामाजिक संरचना व जीवन मूल्य अलग-अलग होते हुए भी मानवता के हित में हैं, प्रकृति के हित में हैं। आधुनिक सभ्यता विकास के नाम पर इसे नष्ट करती जा रही है। आदिवासियों को हाशिये पर धकेल दिया गया है। आज आदिवासी अपनी परंपरा, संस्कृति और सामाजिक मूल्यों को बचाने की कोशिश में लगा हुआ है। इन आदिवासियों से मूल्यों और प्रकृति की बनाई हुई चीजों को बिना क्षति पहुँचाए आनन्दित जीवन की कला को सीख लेने की जरूरत पूरी मानव सभ्यता को है। आदिवासी समाज में पुरुष के साथ-साथ महिलाओं की भूमिका लगभग समानता की है। वे भी आदिवासी जीवन मूल्यों को अपनी सृजन शक्ति के माध्यम से संजोए रखना चाहती हैं। आदिवासी लेखिकाएँ आदिवासी के प्रकृति प्रेम, सुखित जीवन को विकासवादी सभ्यताओं तक पहुँचाने के लिए कथा के माध्यम से लोगों के सामने लाती है। इनके कथा साहित्य में एक तरफ शोषण, पलायन, विस्थापन, आदिवासी अस्मिता को बचाए रखने का दर्द है तो दूसरी तरफ इनसे पार पाने के लिए संघर्ष व आंदोलन भी है। ये कथा लेखिकाएँ आदिवासी महिलाओं की समस्याओं को उजागर करने के साथ ही साथ सामाजिक और नैतिक मूल्यों को भी बचाए रखने के लिए कथा के माध्यम से प्रयासरत हैं।[1,2,3] इस विकास के नाम पर ह्रास होती परंपरा के बारे में बताना तथा अंधविश्वासों से मुक्ति भी इनके कथा साहित्य का ध्येय है। उक्त सभी मूल्यों और विकास को इनकी कहानियों के माध्यम से पड़ताल करने की कोशिश करेंगे। विभिन्न आदिवासी समुदाय व क्षेत्रों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक समानता-विविधता पर भी विचार करने की कोशिश करेंगे।

आदिवासी महिलाओं की कहानियों में प्रकृति का एकाकार रूप प्रतिबिंबित होता है। हर दृष्टि में प्रकृति और आदिवासी बस्ती की शोभा मनोरम एवं दर्शनीय है। आदिवासियों की तरह ही आस-पास पेड़-पौधे, जीव-जंतु भी प्रकृति का एक हिस्सा हैं। अपनी मनोरम छटा के आगोश में प्रकृति आदिवासी रूपी शिशु को पाल रही है। आदिवासी यह भली-भाँति जानते हैं कि प्रकृति ही हमारा जीवन है, प्रकृति नहीं तो जीवन की कल्पना भी नहीं। हर आदिवासी समुदाय की कहानियों में प्रकृति की सुलभ मनोहर छटा दिखाई देती है। झारखण्ड के सारंगा के जंगल हो या अरुणाचल प्रदेश के जंगलों के वृक्ष सभी को कथा साहित्य के अलग-अलग रूपों व शब्दों में उसके घनत्व तथा महत्व को उल्लेखित किया गया है। हर जगह आदिवासियों के जीवन का आधार भी जंगल ही है। वन/जंगल जैसा सीधा एवं सरल स्वभाव आदिवासियों का भी होता है। एलिस एक्का की 'वन कन्या' कहानी में वन कन्यायें एक बाहरी समाज के घायल व्यक्ति की सेवा-सूश्रूषा वनों की औषधियों से ही करती हैं। ठीक होने पर वह व्यक्ति इन जंगल वासियों के प्रति अविभूत हो जाता है और जंगल छोड़ते समय उसकी आँखे आर्द्र हो जाती हैं। इन जंगलों में गर्मी की तपती दुपहरी में भी शीतलता और अंधेरा रहता है। जंगल प्राकृतिक जीव-जंतु सभी आदिवासियों के सहचर नजर आते हैं। झारखण्ड की आदिवासी

लेखिका एलिस एक्का का एक सुक्ष्म निरीक्षण द्रष्टव्य है- "पेड़ वहाँ इतने ऊँचे, ऐसे छतनार कि सूरज की किरणें भी जंगल की धरती पर नहीं पहुँच पाती। सर्वत्र शांति और शीतलता विराजती है। जंगली जानवरों, साँप बिच्छुओं और कीड़े-मकोड़ों का सुखद वास स्थान। वहाँ झींगुर की झनकार, पक्षियों की काकल, पत्तियों की चुरमुराहट और खड़खड़ाहट, हवा की सरसराहट और साँय-साँय। एक ओर नदी अपनी कलकल ध्वनि के साथ बहती जाती है।"[2] झारखण्ड की प्रकृति को विभिन्न बाँध परियोजनाओं एवं कोयला उत्खनन आदि के कारण बहुत नुकसान हुआ है। जिस जंगल में दिन में भी ठंडा व अंधेरा रहता था, जहाँ लोग जाने से डरते थे, वहाँ आजकल कारखनों के कारण वृक्ष विहीन मैदान, नंगी चोटी, कानफाड़ आवाज ही बच पाई है।

आदिवासी लेखिकाओं की हर कहानी में प्रकृति किसी न किसी रूप में मौजूद है। प्राकृतिक जीव-जंतु के संरक्षण की बात रोज केरकेट्टा के 'फिक्स डिपॉजिट', 'मैंग्रोलिया प्वांइट', सेरिङ छेरोल की 'अखरोट की दरख्त' कहानी में विशेष रूप से उठाई गई है। जितना प्रकृति का संरक्षण का भाव कश्मीर की लेखिका सेरिङ छेरोल में मिलता है उतना संरक्षण का भाव पूर्वोत्तर की कहानियों और मध्य भारत की लेखिकाओं की कहानियों में नहीं दिखाई देता है। 'अखरोट के दरख्त' कहानी में प्रकृति की कोमलता, अखरोट के पेड़ से दोस्ती या कह लें मानवीय रूप को दिखाया गया है। इस कहानी में विकास के नाम पर सड़क बनने के कारण अखरोट के पेड़ को काट दिया जाता है और उस बच्ची की भी मौत उसी समय हो जाती है। 'संगीत प्रेम ने प्राण लिए', 'कोयल की लाडली सुमरी' कहानी में एलिस जी ने बहुत ही अच्छे से जंगलों का वर्णन किया है। हांलाकि प्रकृति कभी-कभी घातक हो जाती है। जैसे उषा किरण अत्राम की 'भूख' कहानी में बच्चे बाढ़ के कारण भूख-भूख करते मर जाते हैं। रोज की कहानी 'दुनिया रंग रंगीली रे बाबा' में आँधी-तूफान के कारण एक फौजी मर जाता है। मंमग देई की 'देवों की वर्षा भूमि' में बाढ़ दिखाया गया है, लेकिन किसी भी कहानी में प्रकृति को दोषी नहीं ठहराया गया है। प्रकृति को कोसना अकाल, सूखा की मार सहते एलिस जी ने अपनी कहानी 'धरती लहरायेगी झालो नाचेगी' में भी नहीं दिखाया है। आदिवासी प्रकृति पर निर्भर है, प्रकृति भी आदिवासियों और सभी लोगों से संरक्षण मांगती है।[4,5,6]

आदिवासियों के शोषण का रूप कमोबेश एक समान होता है चाहे वह मध्य भारत का आदिवासी हो या उत्तर-पूर्व का या फिर पश्चिम भारत का आदिवासी हो। विकास के नाम पर आदिवासी किसानों की जमींन छीन कर उन्हें बेघर व मजदूर आदि बना दिया जाता है। ऐसे में एक कमाता-खाता किसान भी अपनी परंपरा, रीति-रिवाज छोड़कर अभाव ग्रस्तता का जीवन जीने के मजबूर हो जाता है। रोज केरकेट्टा की कहानी 'फिक्स डिपॉजिट' इसका सटीक उदाहरण प्रस्तुत करती है। मनोहर दा एक संपन्न एवं सम्मानित किसान थे। उनका घर धन-धान्य से भरा रहता था तथा वे पर्व-त्योहार पर दूसरों के यहाँ भी पहुँचाया करते थे, लेकिन बाँध बनने के नाम पर उनकी जमीने चली गईं। वे बेघर हो गए। जहाँ पूरा गाँव मिलकर उत्सव, त्योहार आदि मनाया करते थे, वहाँ आज वीरानगी फैली है। संस्कृति तो नष्ट हुई ही साथ में ही बच्चे नशाखोरी व गलत आदतों की तरफ आकर्षित होते चले गए। उनकी मानवता यहाँ तक चली गई कि वे अपने ही माँ-बाप को मार-मार कर मार ही डालते हैं। सभी रीति-रिवाज व परंपरा नष्ट हो गई। तिरपन घरों में केवल सात घर रह गया हैं। "गाँव में कौन रह गया है? और अब खेती-बारी है नहीं सब कुली कबाड़ी हैं सबके जवान बेटे मतवार हैं। कौन किसको बोलेगा।"[3] रोज की इस कहानी के अलावा अन्य आदिवासी लेखिकाओं की कलम मौन है। यह कहानी ही आदिवासी विस्थापन की समस्या के मर्म को उजागर करने के लिए काफी है। रमेश चन्द्र मीणा ने इसे अमानवीय कृत्य करार दिया है- "किसी मूलवासी को उसकी जमीन से उखाड़ कर किसी दूसरे नागरिक का विकास करना अलोकतांत्रिक, अव्यावहारिक और अमानवीय ही कहा जाएगा।"[4]

आदिवासी स्त्री कथाकारों ने आदिवासियों के शोषण और नस्ली भेदभाव को भी उजागर किया है। यह शोषण आदिवासी एवं आदिवासी स्त्री अधिकार को लेकर लड़ाई, अंग्रेज और उच्च वर्ग के जीमींदारों के बीच दिखाई है। बाहरी समाज दलित की ही तरह आदिवासियों से भी भेद-भाव करता है। आदिवासियों के शिक्षित एवं योग्य होने के बाद भी सामान ढोने, साफ-सफाई के लायक ही समझा जाता है। रोज केरकेट्टा की 'जिद' कहानी में कोलेंग अपनी मेहनत और ईमानदारी से काम करते हुए भी सरकारी स्कूल का हिस्सा नहीं बन पाती है। बाद में आए लोग नौकरी व उन्नति पा लेते हैं, वह मात्र इसलिए पद व सम्मान प्राप्त न कर सकी क्योंकि वह आदिवासी है। उसका मजाक 'मिस ग्रेजुएट' करके उड़ाया जाता है। जबकि सच्चाई यह है कि उसी की मेहनत को बेकार बताकर पहले फेंक दिया जाता है, बाद में उसी के द्वारा तैयार फाइल को उठाकर अपने नाम से उपयोग करते हैं। कोलेंग काफी संघर्ष करके नौकरी तो पा लेती है, उस पर भी जाँच बैठा दी जाती है। लोगों की नजर में एक आदिवासी लड़की कैसे नौकरी पा जाती है, यही भेद-भाव भरा प्रश्न कुरेदता रहता है। झारखण्ड का आदिवासी समुदाय इस भेदभाव से ज्यादा ही प्रभावित दिखाई देता है। रोज

की दो प्रेमियों की कहानी 'मैंग्रोलिया प्वांइट' में मैंग्रोलिया अंग्रेज किशोरी और पंचु आदिवासी है। दोनों एक न हो पाने के कारण पहाड़ी से कूदकर मृत्यु को गले लगा लेते हैं। गौर किशोरी मैंग्रोलिया के नाम वह मैंग्रोलिया प्वाइंट बन गया "इसलिए सभी नेतरहाट के मैंग्रोलिया प्वाइंट से मैंग्रोलिया को याद करते हुए प्रकृति को निहारते हैं। और पंचु? कोई उसे स्मरण नहीं करता। नेटिव था न? तो नेतरहाट का सुंदर विश्व प्रसिद्ध सौन्दर्य एक आदिवासी युवक और महामहीम की गोरी युवा लड़की की प्रेमकथा यहीं आकर एक सामान्य प्रेमकथा न रहकर नस्ली भेदभाव से भरी दुनिया के खिलाफ सुलगता सवाल बन जाता है।"[5] रोज केरकेट्टा की ही दूसरी कहानी 'घाना लोहार का' में जमींदारी शोषण व्यवस्था को उजागर किया गया है। जमींदार आदिवासियों को छोटी जाति का समझ कर उनकी बहू-बेटियों को उठा लेते हैं। यह आम बात थी, लेकिन उनको संपत्ति का हिस्सा भी नहीं दिया जाता। यह कहानी आदिवासी स्त्री रोपनी के शोषण की कहानी है। सबसे बड़ी बात कि पंचायत भी जमींदार के हक में ही फैसला सुनाती है। आदिवासी स्त्री अपना अपमान शोषण सह सकती थी, लेकिन अपने पुत्र के अधिकार को लेकर सजग थी। संपत्ति में हिस्सा न मिलने के कारण वह प्रतिरोध स्वरूप जमींदार की हत्या कर खुद पुलिस को सौंप देती है। इन्ही की जमींदार के अत्याचार और शोषण की कहानी 'भाग्य' में दर्शाया गया है जिसमें जमींदार गंझू के पूरी मजदूरी न दिए जाने के कारण और एक आदिवासी परिवार भूख को न सह पाने के कारण पिता अपने ममत्व की हत्या कर पुत्र-पुत्री को छोड़कर चला जाता है। शोषण और अत्याचार के संबंध में झारखण्ड के आदिवासियों के समुदाय और अरुणाचल के आदिवासी समुदाय में कुछ हद तक समानता दिखाई देती है। जोराम यालाम की कहानी 'दिलासा' में ठेकेदारी में कड़ाके की ठंड व बरसात के समय भी काम करवाया जाता है। उनके घायल होने पर उन्हें बेसहारा ही छोड़ दिया जाता है। इलाज के पैसे भी गरीब मजदूरों को नहीं दिए जाते हैं। यह आठ मजदूरों की दर्द भरी कहानी है। पूर्वोत्तर भारत की कहानियों के अनुसार आदिवासियों में अभी तक जमींदारी शोषण व अत्याचार व्यवस्था नहीं दिखाई देती है। दीकू समाज मध्य भारत के आदिवासियों के बीच ज्यादा अंदर तक पहुँचकर, उनकी संस्कृति को दूषित कर अत्याचार व शोषण करता है। पूर्वोत्तर के आदिवासियों में इस तरह का भेदभाव व शोषण का अभाव है।[7,8,9]

शिक्षा हर नागरिक को जागरूक बनाने के लिए जरूरी है। आदिवासी समुदाय या क्षेत्र अभी भी शिक्षा से कोसों दूर है। कहीं विद्यालय ही नहीं है। आजादी के पचहत्तर साल बाद भी सुदूर आदिवासी क्षेत्रों में आदिवासी अपनी पारंपरिक दिनचर्या जी रहा है तो कहीं वह दीकूओं का शिकार बन रहा है, कहीं ठेकेदार और साहूकार की ठगी का शिकार बन रहा है। भारत सरकार हर नागरिक तक शिक्षा पहुँचाने का दावा तो करती है पर आने वाले आँकड़े और रचनाएँ अलग ही कहानी बयाँ कर रही है। "आदिवासी पिछड़ेपन का दूसरा नाम रहा है आजादी के दशकों बाद भी उनमें उल्लेखनीय बदलाव नहीं आ सका।"[6] इसके पीछे सबसे बड़ा कारण है शिक्षा का उन तक न पहुँचना। जहाँ भी स्कूल है, शिक्षक हैं वहाँ के बच्चे शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं, लेकिन दुर्भाग्यवश अधिकतर गाँवों में अभी स्कूल ही नहीं है। सरकार की फाइलों और योजनाओं में हर जगह स्कूल चल रहा है, लेकिन जमीनी हकीकत कुछ और ही कहानी कहती है। "जो भी इनके बीच जाता है वह इन्हें लाभान्वित करने की कामना से नहीं अपितु स्वयं उनसे लाभ उठाने के लालच से जाता है।"[7] ऐसे ही कहानी रोज केरकेट्टा की कहानी 'जिद' है। इसमें बाहरी व्यक्ति रिश्वत देकर सरकारी कर्मचारी तो बन जाता है, लेकिन वह अपने काम पर उन्नति पाने के लिए दूसरे के काम चुराता है। आदिवासी बालक-बालिकाओं में पढ़ने की ललक हर आदिवासी महिला कहानीकार ने दिखाने की कोशिश की है। भारत के सभी भागों में यह समानता दिखाई देती है। रोज केरकेट्टा 'फ्राक' कहानी के माध्यम से स्कूल के लिए लड़कियों को तैयार करती हैं तो 'पगहा जोरि जोरि रे घाटो' में चरवाहा के रूप में एक लड़की के पढ़ने की ललक को दिखाया है। पशु को चराते समय खिड़की से चिपक कर लिखना-पढ़ना सब सीख जाती है। वह आगे भी पढ़ाई जारी रखती है। वहीं पूर्वोत्तर की कहानी 'उसका नाम यापी था' (जोराम यालाम) में यापी बड़ी उम्र में पढ़ना तो चाहती है, लेकिन वह बार-बार बलात्कृता होती है। नागालैण्ड की आदिवासी लेखिका तेमसुला आओ की 'तीन औरतें' कहानी में मार्था स्कूल में अच्छे नंबरों के साथ पहला स्थान लाती है। यह अलग बात है कि वह दिखने में काली व कुरूप है इसलिए बच्चे चिढ़ाते हैं। ममंग देई की कहानी 'आईना' में पहली बार आदिवासी इलाके में मास्टर साहब की नियुक्ति होती है। शिक्षा प्राप्त कर मास्टर, डॉक्टर आदि बनते आदिवासी लोगों को दिखाया गया है। रोज की 'रमोणी' कहानी में रमोणी के पढ़े-लिखे होने के कारण व्यापार की ठगी कम होती है तो इन्हीं की कहानी 'से महुआ गिरे सगर राति' में जोसफा नर्स की ट्रेनिंग लेकर बीमारों की सेवा का काम करती है। ऐसे ही पूर्वोत्तर की कहानियों में तेमसुला आओ की 'तीन औरते' कहानी में मार्था की माँ नर्स का काम करती है। जोराम यालाम की कहानी 'उसका नाम यापी था' में यापी की सहेली पढ़-लिखकर शहर में काम पर होती है। शिक्षा पाकर लोगों में जागरूकता भी बढ़ी है जैसे 'रमोणी' कहानी में रमोणी गाँव की भलाई के लिए काम करती है, तो 'केराबांझी' में छोटा परिवार सुखी परिवार के प्रति जागरूकता दिखाई गई है। यह उन्नति बहुत सी कहानियों में आने के बाद भी आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा, शिक्षक एवं संसाधनों का सर्वतः अभाव दिखाई देता है।

आदिवासी कथा लेखिकाओं ने आदिवासीयों की अन्य समस्याओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है या दूसरे शब्दों में कह लें आदिवासी स्त्री को साहित्य पटल पर उत्कीर्ण करना ही लेखिकाओं का प्रमुख उद्देश्य है। इन कहानियों में आदिवासी स्त्री, अन्य समाज की तुलना में स्वतंत्र है। वह चहारदीवारी में कैद होकर केवल पुरुष के कहे अनुसार नहीं चलती है। स्त्री पत्नी होने के साथ-साथ सहयोगिनी होती है।[8] घर-बाहर के सारे काम वह फुर्ती के साथ करती है, 'वनकन्या' (एलिस एक्का) कहानी में स्त्री जंगल से सामान लाती है, अकेले या समूह में घर से बाहर निकलती है। लगभग सभी कहानियों में दर्शाया गया है। इसी कहानी में फेचो जंगली औषधियों को भी जानती है वैसे ही पूर्वोत्तर में वर्णित सभी कहानियों में यह स्वतंत्रता पाई जाती है। जोराम यालाम के उपन्यास 'जंगली फूल' में स्त्री युद्ध भी करती है तथा दोलियांग जैसी स्त्री सभी औषधियों को जानती है जिसमें दो-चार कबीले लाभान्वित होते हैं। आदिवासी स्त्रियाँ परिश्रमी भी होती हैं। जंगल से पानी लकड़ी तथा अन्य वनोपज लाने का काम इन्हीं स्त्रियों का होता है। इसे 'वनकन्या', 'आँचल का टुकड़ा', 'जंगली फूल' आदि कथाओं में दिखाया गया है। इन सब स्वतंत्रता के बावजूद कथा लेखिकाओं ने स्त्रियों से संबंधित विभिन्न समस्याओं को उठाया हैं। भारत मे पितृसत्तात्मक व्यवस्था है। इस व्यवस्था में स्त्री कितना भी स्वतंत्र हो, लेकिन पुरुष सत्ता कहीं न कहीं हावी हो ही जाती है। कहीं बेटी पैदा होने पर खुशी मनाई जाती है तो कहीं बेटी पैदा होना उदास कर देता है। हालाँकि बाहरी समाज व्यवस्था में माता-पिता दहेज आदि के कारण गहन चिंता में डूब जाते हैं, लेकिन आदिवासी समाज बेटियों को बोझ नहीं मानता क्योंकि ये धन लाने वाली होती है घर में। आदिवासी का हर समुदाय तो एक जैसा नहीं हो सकता। रोज की कहानी 'केराबांझी' में एक पुत्री होने पर ही अपने समाज की परंपरा को चुनौती देती है। यहाँ की परंपरा में एक से अधिक बच्चे पैदा करना ही अच्छा मानते हैं। यही बेटी ही सब कुछ है। यहाँ लेखिका, संपत्ति के वारिस केवल बेटे ही बन सकते हैं, की परंपरा को तोड़ती हैं। बेटी को वारिस व एक पुत्र-पुत्री की विचारधारा को स्थापित करने के लिए परिवार व समाज से संघर्ष करती हैं। एलिस एक्का की कहानी 'सलगी जुगनु अंबा गाछ' कहानी में सलगी के पैदा होने पर सलगी की माँ बहुत खुश होती है और उसे ही बहुत प्यार करती है। वहीं रोज की 'फिक्स डिपॉजिट' कहानी में बेटे को वारिस बनाकर मनोहर बहुत पछताता है क्योंकि वह अपने माता-पिता को ही मारते-मारते मार डालता है। बेटी को याद करते-करते प्राण निकल जाते हैं। बेटा, बेटी में अंतर को संघर्ष के माध्यम से लेखिका रोज जी 'पगहा जोरि जोरि रे घाटो' व 'प्रतिरोध' कहानी में खत्म करना चाहती हैं। प्रथम कहानी में दया स्कूल जाने के लिए जिद करती है। दया माँ से कहती है। "मेरा भी नाम स्कूल में लिखा दो अपने बेटों को पढ़ाती हो। मुझसे सारा काम कराती हो। माँ बोली पढ़ के क्या करोगी। विवाह होगा तो ससुराल में भी चूल्हा फूँकोगी। काम सीखो बेटी। सिखलाही बहू को सास भी प्यार करती है सास का तो कमनी बहू चाहिए। पागल मत बनो।"[9]ऐसे ही प्रतिरोध कहानी में बेटियाँ अपनी स्वतंत्रता के लिए शहर से सीखकर गाँव में पहली बार फुटबाल खेलती हैं। अभी तक यह खेल केवल लड़कों का ही था। इन्ही की 'मैना' कहानी में गाँव के लड़के ही लड़कियों की स्वतंत्रता के लिए अपने समाज से संघर्ष करते हैं। इस तरह आदिवासी कथा लेखिकाएँ उत्तर व मध्य भारत के समाज में बेटा-बेटी के अंतर को संघर्ष से पाटना चाहती हैं। पूर्वोत्तर भारत का आदिवासी कथा साहित्य इस अंतर को कम करने की कोशिश करता है।

आदिवासियों की दुनिया भी बुरी नजर वाले पुरुषों से बची नहीं है। इनसे बाहरी समाज का पुरुष बलात्कार करता है और फल उस बिना दोषी महिलाओं को भुगतना पड़ता है। एलिस एक्का की कहानी 'कोयल की लाडली सुमरी' में सुमरी के साथ जंगल में चार लोगों ने बलात्कार किया। इसी जैसी वसुधा मंडावी गोंडी कहानी 'इरुक' है। इरुक का बालात्कार बाईक सवार दो बाहरी लड़कों ने किया। रोज की 'बड़ा आदमी' कहानी व 'मैना' कहानी में बालात्कार होता है, लेकिन बड़ा आदमी कहानी में शहर गई स्त्री का मालिक व उसके बेटे के द्वारा रोज बलात्कार किया जाता है। वहीं दूसरी तरफ अपने समाज के द्वारा स्त्री बलात्कृता होती है। वहाँ अपने ही समाज के कुछ मन बढ़े लोग स्त्री शरीर को बलात हासिल करना चाहते हैं। ऐसा कभी आदिवासी समुदाय में नहीं था। यह समस्या बाहरी समाज के वर्चस्व के कारण ही आदिवासियों में भी पनपने लगी है। 'अंतिम टारगेट' (मीरा राम निवास) कहानी में पति का बड़ा भाई ही बलात्कार करता है। इसी तरह 'आईना' (ममंग देई) कहानी में एक खूबसूरत लड़की का बलात्कार करने की कोशिश उसी समाज के एक लड़के के द्वारा की जाती है। जब बलात्कार की कोशिश पूरी नहीं हो पाती तो उसका मुख कोयले की आग से जला दिया जाता है। रोज की ही कहानी 'भँवर' में जमीन हथियाने के कारण गाँव के ही कुछ लोग मिलकर सामूहिक बलात्कार कर माँ-बेटी की हत्या कर देते हैं। पूर्वोत्तर भारत की जोराम यालाम की कहानी 'उसका नाम यापी था' मे भी यापी को आदिवासियों द्वारा बार-बार बलात्कार का शिकार बनाया जाता है। तेमसुला आओ की कहानी 'तीन औरते' में भी दादी बलात्कार का शिकार होते हुए भी बच्चे को जन्म देतीं हैं। बाहरी समाज से भिन्नता यहाँ यह है कि बाहरी समाज में बलात्कृता स्त्री को अपने समाज का ढ़ाँचा ही जिन्दा रहने नहीं देता है। आदिवासी समाज में स्त्री से बलात्कारी पुरुष का नाम पूछकर, यदि दोनों की सहमति होती है तो शादी करवा दी जाती है। यदि दोनों राजी नहीं होते

तो कुछ अर्थदण्ड आदि पंचायत द्वारा लगाकर छोड़ दिया जाता है। [10,11,12]ये पंचायतें सरकार के कोर्ट के फैसले जितना क्रूरतम फैसला व फैसले देने में देरी नहीं करती है। आदिवासी समाज के बारे में राज किशोर ठीक ही कहते हैं कि "आदिवासी समाजों में बलात्कार कम से कम होते हैं और जब होते हैं तब न तो कोई स्त्री आत्महत्या करती है और न ही यह मान लिया जाता है कि उसका सर्वस्व लुट गया है।"[10] बलात्कार भारतीय स्त्री जीवन को एक झटके में खत्म कर देता है, जबकि वह निर्दोष होती है। वहीं बलात्कारी पुरुष खुला घूमता है। आत्महत्या और गर्भपात जैसी घटना आदिवासियों में नहीं थी, लेकिन अन्य समाज को देखते हुए यह खराब चीजें इनमें भी फैलती जा रही है। यह आदिवासी समाज के लिए या किसी भी समाज के लिए बहुत ही हानिकारक है। एलिस की 'कोयल की लाडली सुमरी' कहानी में सुमरी ने दीकू वर्चस्ववादी अपने समाज से मजबूर होकर आत्महत्या की, ममंग देई की 'आईना' की युवती भी अपना बदसूरत चेहरा देखकर आत्महत्या करती है। वहीं पूर्वोत्तर की जोराम की कहानी 'उसका नाम यापी था' में यापी ने भी इस दूषित समाज से छुटकारा पाने के लिए गर्भवती होने पर भी मौत को गले लगा लेती है। गर्भपात या भ्रूणहत्या की घटना पहली बार दो कहानियों में दिखाई देती है। एक झारखण्ड के आदिवासियों में दूसरी अरुणाचल के आदिवासी समुदाय में। 'मेरे बाप की शादी' कहानी में दो बेटी और एक बेटे की माँ ने अपने पति के दबाव में आकर गर्भपात करवाती है इसलिए मर भी जाती है। पूर्वोत्तर की कहानी 'उसका नाम यापी था' में यापी खुद से गर्भपात करवाती है। आदिवासी कथा साहित्य में स्त्रियाँ बलात्कार, आत्महत्या व गर्भपात का विरोध करती है, लेकिन यह तेजी से बदलता समाज उन्हें ऐसा करने पर मजबूर कर देता है, जिसमें स्त्री का कोई दोष नहीं होता है। उत्तर-मध्य भारत में गर्भपात का विभेद है कि यहाँ की स्त्रियों को न चाहते हुए भी गर्भपात करवाया जाता है, जबकि पूर्वोत्तर में स्त्री खुद से गर्भपात करवाने का कदम उठाती है।

आदिवासियों के पास जंगली उपज के अलावा और कोई जीने का उपाय नहीं हैं। सरकारें विकास का दावा तो करती हैं, लेकिन इनके दावे कागजों पर ही सिमट कर रह जाते हैं। यहाँ तक कि आदिवासियों के पास उनकी मूलभूत आवश्कता की चीजें जैसे दवाइयाँ, शिक्षा, सड़क आदि नहीं पहुँच पाती है। रोज की 'फ्राक' कहानी में एक बच्ची का फ्राक न होने के कारण स्कूल नहीं जाती है। उसे बहुत दुख उठाना पड़ता है तब फ्राक मिलता है। एलिस की कहानी 'कोयल की लाडली सुमरी' में सुमरी अपने पिता को बचाना चाहती है, लेकिन जंगल पार कर डॉक्टर को बुलाने में ही उसके पिता नहीं बचते और उस समय हास्पिटल में डॉक्टर भी नदारत थे। एलिस की ही कहानी 'सलगी जुगनी अंबा गाछ' में एक फूल सी बच्ची की असमय मौत हो जाती है, क्योंकि अभाव व गरीबी के कारण उसका फूस का छत रात भर टपक रहा था, वह बीमार पड़ी तो मर ही गई। दवाई उसके मरने के बाद ही पहुँचती है। इन्ही की कहानी 'धरती लहराएगी झालो नाचेगी' में अकाल में लोग भूखे मरने के लिए तैयार रहते हैं। उत्तर और मध्य भारत की सी ही समस्या पूर्वोत्तर भारत में भी दिखाई देती है। जोराम की 'दिलासा' कहानी में आठ घायल मजदूर कड़ाके की ठण्ड में रात भर उपचार के लिए कराहते रहे, लेकिन इलाज सुबह किसी तरह मिला। आदिवासी समुदाय में छोटी से छोटी बीमारी भी डॉक्टर की अनुपस्थिति में जानलेवा हो जाती है। मूलभूत जरूरत के सामानो के मामले में मजलूम हैं ये आदिवासी। इसलिए वीर भारत तलवार जी ठीक ही कहते हैं- "बिमारियाँ होती हैं उनको, बड़ी मामूली सी बिमारियाँ, जिनका इलाज कराने की क्षमता नहीं है उनमें, और जिनके बारे में वे जानते भी नही हैं। एक मामूली सी क्रोसीन से जिन बिमारियों का इलाज संभव है, उन बिमारियों से आदिवासी सहज रूप से मर जाते हैं।"[11]

आदिवासी समाज में सांस्कृतिक रूप से विभिन्नता होते हुए भी कुछ मामलों में एकता दिखाई देती है। यह विभिन्न क्षेत्र, समुदाय आदि पर विशेष रूप से निर्भर करती है। स्वास्थ्य शरीर में जंगली फूलों और पत्तों से सजने का रीवाज बहुत पहले से झारखण्ड की आदिवासी ही नहीं वरन सभी आदिवासी क्षेत्रों में है। झारखण्ड में आदिवासी लड़कियाँ घुटनों तक लाल पाड़ की साड़ियाँ, गले में पोत की मालाएँ, कान में तरपत व हाथ में लाह का कंगन पहनती हैं।[12] पूर्वोत्तर के 'जंगली फूल' उपन्यास (जोराम यालाम) में पुरुष आदिवासी अपने लिंग को काले कपड़े से ढका रहता है तथा स्त्रियाँ पत्तों से कटि प्रदेश व वक्ष स्थल को ढकी होती हैं। झारखण्ड व मध्य भारत में विवाह लड़की के पसंद से ही होता है। जब घोटुल, जतरा आदि में लड़कियाँ व लड़के एक दूसरों को जीवन साथी चुन लेते हैं तब दोनों के माता-पिता मिल-बैठ कर शादी करा देते हैं। पूर्वोत्तर भारत में एक पति की कई पत्नियाँ होती हैं। जिसकी जितनी ही पत्नियाँ होती है वह उतना ही बलशाली कहलाता है। बड़ी पत्नी ही अन्य सभी पत्नियों को अपने पति के लिए लाती है। माँ-बाप वर से मिथुन व सामान लेकर लड़की की शादी कर देतें हैं। यदि लड़की वहाँ खुश नहीं है तो उसे उसके बदले दिए गए मिथुन आदि को वापस करना पड़ता है तथा फिर खुद से किसी की दूसरी, तीसरी या चौथी पत्नी बनना पड़ता है। स्त्रियाँ बलशाली पुरुष को ही पति के रूप में पसंद करती है। कभी-कभी गर्भ में ही बच्चों की शादी कर दी जाती है। यदि पत्नी किसी और पुरुष के साथ पकड़ी जाती है तो उसे बद से बदतर सजा दी जाती है। उसके शरीरिक अंगो व

यौन अंगो के साथ सामाजिक रूप से खिलवाड़ किया जाता है व यातना दी जाती है। यहाँ पर बेटा-बेटी कभी अवैध व अनाथ नहीं होते हैं। कुछ अंधविश्वास हर जगह व्याप्त है जैसे एलिस की 'वनकन्या' कहानी में 'ओटंगा' चाकू लेकर गर्मियों में देवी देवताओं के लिए आदमी का खून खोजते हुए लोगों की हत्या कर देते हैं। डायन या शैतान कह कर औरतों को मार दिया जाता है। 'जंगली फूल' में रुंगिया के साथ ऐसी ही घटना घटती है। आदिवासी समुदाय में भी अलग-अलग क्षेत्र की अलग-अलग समस्याएँ हैं। सभी आदिवासी क्षेत्रों में नृत्य-गान का प्रचलन है, इससे वे दिन भर की थकान को दूर करतें हैं।

इन आदिवासी कथा लेखिकाओं के हिसाब से आदिवासी कभी शहरी सभ्यता को स्वीकार नहीं करता है। वह अपने परंपरा, रीति-रिवाज को छोड़कर जाने के पक्ष में बिल्कुल भी नहीं है। आज तेजी से आदिवासी जल, जंगल व जमीन को खत्म किया जा रहा है ऐसे में विस्थापित होकर या पलायन करके शहर में जाना उसकी मजबूरी हो जाती है। वहाँ जाकर वह अपनी संस्कृति व सभ्यता को नष्ट प्राय पाता है तथा अपने सीधेपन के कारण बार-बार ठगा जाता है। आदिवासी विकास के नाम पर मूलभूत चीजों और जल, जंगल, जमीन को बचाए रखना चाहता है। बाकी अपने रीति-रिवाज, परंपरा व मानवीय संवेदनाओं को संजोए रखना चाहता है। रोज की 'फिक्स डिपॉजिट' कहानी में मनोहर एक सम्मानित किसान होकर अपने रीति-रिवाजों के साथ जी रहा था। विकास के नाम पर उस गाँव की जमीन जब बाँध में चली गई तब उसकी मानवता व उसका सम्मान सब खत्म हो गया। उसका बेटा चंद पैसों के लिए अपने ही माँ-बाप को मार-मार कर मार डालता है और गाँव का कोई बोलने भी नहीं आता। रोज की दूसरी कहानी 'सच्चा सुख' में शहर गया आदिवासी व्यक्ति अनायास वस्तुओं का संग्रह कर अपने को बड़ा आदमी कहलाना चाहता है, लेकिन वह भूल जाता है प्यार और शांति के लिए आधुनिक वस्तुओं के संग्रह की जरूरत नहीं, वह टूटी पलंग में पनपता है। जो नींद गद्दे पड़े बेड पर नहीं आती वह खेत आदि में मेहनत करने से टूटी खाट पर आती है। आदिवासी समाज में बलात्कृता स्त्री का भी स्थान था, लेकिन बाहरी वर्चस्व व वैश्वीकरण के कारण सुमरी जो जीना चाहती है उसे भी आत्महत्या के लिए मजबूर होना होता है। बाहरी समाज के कुछ लोगों के हस्तक्षेप के कारण संपत्ति का लालच इतना बढ़ गया है कि रोज की 'कोपलों को रहने दो' कहानी में बूढ़े बाप को अपने जीते ही बेटी को अनाथालय में छोड़ना पड़ता है। इन्ही की 'भाग्य' कहानी में जमींदार के काम के बदले अनाज न देने के कारण एक पिता अपने बेटे-बेटियों को छोड़कर भाग जाता है। शहरी सभ्यता, संस्कृति कहीं न कहीं आदिवासियों की परंपरा व पहचान को नष्ट कर रही है। रोज की ही चर्चित कहानी 'बिरूवार गमछा' में एक गमछा के कारण संस्कृति को संजोए रखना चाहता है। आदिवासी समाज अपनी संस्कृति के मूल्य को जानकर फिर से महत्व देना चाहता है। शहरी लोगों के घुसपैठ के कारण आज ठगी, बेईमानी और बलात्कार की घटनाएँ बढ़ गई हैं। दीकू समाज के प्रभाव के कारण ही आदिवासी भी आज स्त्रियों को दीवारों में कैद करना चाहता है।

इस प्रकार समग्र रूप से कहा जाय तो आदिवासी समाज आज भी अपनी पहचान बनाए रखने की कोशिश में लगा हुआ है। आदिवासी समाज को दीकू समाज व नगरीय व्यवस्था से बहुत ही हानि उठाना पड़ रही है। जो सीधे अपने रीति-रिवाजों के अलावा कुछ जानते भी नहीं थे, वे अपने में ही आनन्दित रहते थे, वे इस वैश्वीकरण के दौर में अपसंस्कृति, नशाखोरी आदि का शिकार हो रहें हैं। औद्योगीकरण व नगरीय विकास के कारण वे पलायन करने पर भी मजबूर हो रहे हैं। इन आदिवासियों की, सरकारें भी मदद के नाम पर खून चूसने और रिश्वत लेने वाली पुलिस को भेज देती हैं। यह पुलिस भी ठेकेदार साहूकार व दीकू की ही सुनती है। आवश्यकता है इस अपराध रहित व्यवस्था को पोषण देने की, क्योंकि इससे न्याय पाने के लिए न्यायालय के सालों-साल चक्कर नहीं काटने पड़ेंगे। महिला कथाकारों ने महिलाओं के शोषण, बलात्कार, रूढ़ि, परंपरा व इनके प्रति वर्चस्व को तोड़ने के प्रति संघर्ष को दिखाया है। इन स्त्रियों का संघर्ष खुद के समाज से तथा दीकू समाज से भी है। आदिवासी समाज विकास तो चाहता है, लेकिन अपने मानवीय मूल्यों वाले रीति-रिवाज व शांति को बचाकर। इनका विकास शिक्षा को हर व्यक्ति तक पहुँचाकर किया जा सकता है। आदिवासी भी अब धीरे-धीरे धन संचयन व अपराध के गर्त में धसता चला जा रहा है।

विचार-विमर्श

दुनिया के आदिवासी समाजों ने अपनी लड़ाइयाँ खुद ही लड़ी हैं, लेकिन मुख्यधारा के क्रांतिकारी साहित्यों ने भी उनके प्रति मानवीय संवेदनशीलता प्रदर्शित करते हुए उनकी चिन्ताओं के चित्रण की ज़हमत नहीं उठाईं। सवाल यह उठता है कि आख़िर उनकी चिन्ता किसी को क्यों नहीं है? क्यों यह समुदाय आज भी हाशिये पर की ज़िन्दगी जीने को अभिशप्त है? साहित्य यदि बाजार के लिए नहीं है, मनुष्य और मनुष्यता के लिए है, तो हिंदी साहित्य की प्रस्तुति आदिवासी समाज के बगैर क्यों है? हिन्दी

साहित्य के सन्दर्भ में यह प्रश्न प्रेमचंद से ज़्यादा प्रेमचंद की परंपरा का वाहकों से है कि प्रेमचंद से छूट गया आदिवासी आज भी उनकी परंपरा से क्यों बहिष्कृत है? लेकिन, इस प्रश्न का जवाब न मिलता देख पिछले दशकों के दौरान इस शून्य की भरपाई की दिशा में खुद आदिवासियों को पहल करनी पड़ी।

आदिवासी-विमर्श की पृष्ठभूमि:

समकालीन हिन्दी साहित्य स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श से आगे बढ़ने की कोशिश कर रहा है और हिंदी में आदिवासी विमर्श सबसे नया विमर्श है। ऐसा नहीं कि हिंदी में इससे पहले आदिवासियों के जीवन पर नहीं लिखा गया, लेकिन पिछले ढाई दशकों के दौरान उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की तेज़ होती प्रक्रिया के साथ जिस तरह से आदिवासियों के जीवन में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हस्तक्षेप को बढ़ाया और इसके कारण उनके जल, जंगल एवं जमीन से सम्बंधित पारंपरिक अधिकारों का अतिक्रमण शुरू हुआ, इसने आदिवासी क्षेत्रों में संघर्ष को तेज़ किया और इस संघर्ष में राजसत्ता एवं प्रशासन का हस्तक्षेप बहुराष्ट्रीय कंपनियों एवं कॉर्पोरेट्स के पक्ष में तथा आदिवासियों के विरुद्ध रहा। इसने आदिवासियों के समक्ष अस्तित्व एवं अस्मिता के विकट प्रश्न को जन्म दिया जिसमें यदि वे अपनी सांस्कृतिक पहचान को अहमियत देते हैं, तो उनका अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है और अगर वे अपने अस्तित्व को प्राथमिकता देते हैं, तो उनकी सांस्कृतिक पहचान खतरे में पड़ सकती है। ध्यातव्य है कि यूनेस्को ने भारत की जिन 196 जन-भाषाओं के अस्तित्व को खतरे में बतलाया, उनमें अधिकांश भारत की आदिवासी भाषाएँ हैं। यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें आदिवासियों की अस्तित्वगत एवं अस्मितागत बेचैनी ने एक पृथक एवं स्वतंत्र धारा के रूप में आदिवासी विमर्श की संभावनाओं को बल प्रदान किया। इसके परिणामस्वरूप दलितों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए आदिवासियों की समस्याओं पर लेखन की दिशा में खुद आदिवासियों ने ही पहल की।

मुख्यधारा के साहित्यकारों के द्वारा उपेक्षा से उपजा असंतोष:

इस दिशा में संकेत करते हुए हरिराम मीणा ने कहा है कि "हिंदी साहित्य के प्रतिष्ठित लेखकों से हमें अपेक्षा थी कि वे स्त्री, दलित, अल्पसंख्यक, आदिवासी एवं हाशिए पर डाली जाती रही अन्य अस्मिताओं को अपेक्षित अभिव्यक्ति देते, वह अपेक्षा पूरी नहीं हुई। यही वजह है कि इन अस्मिताओं से जुड़े लेखकों को एक मुहिम के तौर पर हिंदी साहित्य में हस्तक्षेप करना पड़ा और अपनी पहचान बनाने के लिए जूझना पड़ा।" , तो मुख्यधारा के रचनाकारों से उनकी शिकायत छुपी नहीं रह जाती। यह शिकायत इस ओर इशारा करती है कि मुख्यधारा के रचनाकारों ने हाशिये पर के समूह के साथ न्याय नहीं किया है और इसीलिए वे उनकी अपेक्षाओं पर खड़े नहीं उतर पाए जिसके कारण इन समुदायों के रचनाकारों को खुद आगे आना पडा। आदिवासी साहित्य के उभार की प्रक्रिया को और अधिक स्पष्ट करते हुए गंगा सहाय मीणा ने कहा है कि "1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण की नीतियों से तेज हुई आदिवासी शोषण की प्रक्रिया के प्रतिरोधस्वरूप आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हुई रचनात्मक ऊर्जा आदिवासी साहित्य है।"

दलित विमर्श से इसकी भिन्नता:

चूँकि दलितों से भिन्न आदिवासी अपनी पृथक भाषाई-सांस्कृतिक पहचान को लेकर कहीं अधिक आग्रहशील रहे हैं, इसीलिए आदिवासियों की समस्याएँ दलितों की समस्याओं से भिन्न रही हैं:

1. जहाँ दलितों के मुख्यधारा से अलगाव की प्रकृति सामाजिक कहीं अधिक रही है, वहीं आदिवासियों के मुख्यधारा से अलगाव की प्रकृति भाषिक एवं सांस्कृतिक कहीं अधिक रही है और इस अलगाव को ठोस धरातल प्रदान किया है भौगोलिक अलगाव ने।
2. इस अलगाव ने इनके राजनीतिक एवं सामाजिक अलगाव का भी आधार तैयार किया है।
3. इतना ही नहीं, दलितों से भिन्न आदिवासियों की सामूहिकता में गहरी आस्था है। वे 'आत्म' से कहीं अधिक समूह में विश्वास करते हैं। इसीलिए जहाँ 'आत्मकथात्मकता' दलित-विमर्श के केंद्र में है, वहीं आदिवासी विमर्श में आत्मकथात्मक लेखन की केन्द्रीयता नहीं है।
4. दलित-विमर्श नया है, लेकिन आदिवासी विमर्श की परिपाटी काफी पुरानी है।[9,10,11] इसकी सशक्त वाचिक परम्परा रही है और यह अब लेखन के धरातल पर उतर रही है। इसने कविता को अपना मुख्य हथियार बनाया है क्योंकि आज भी आदिवासी समाज का बड़ा हिस्सा अशिक्षित एवं

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 7.583 | Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 11, Issue 3, May-June 2024 |

अभावग्रस्त है तथा गरीबी एवं भुखमरी का शिकार है। आधुनिक शिक्षा एवं आधुनिक चिंतन से दूर आदिवासी समाज का यह हिस्सा अपने पारंपरिक सामूहिक मूल्यों के साथ अपने अस्तित्व को बचाने के लिए जद्दोजहद कर रहा है। ऐसी स्थिति में वाचिक परंपरा के प्रति अनुकूलता के कारण कविता ही वह माध्यम है जिसके जरिये आदिवासी रचनाकार अपनी आवाज़ आदिवासी समाज के बड़े हिस्से तक पहुँचा सकते हैं।

5. यहाँ पर यह बात भी ध्यान में रखे जाने योग्य है कि आदिवासी समाज में आरंभ से ही कबीलाई स्वतंत्रता की भावना प्रबल रही है और इसने आदिवासियों में विद्रोह-वृति को जन्म देते हुए इन्हें लगातार उकसाया है। इसके विपरीत दलितों में विद्रोह-वृति एक नवीन प्रवृति है।

6. आदिवासी-विमर्श इस मायने में भी दलित-विमर्श से भिन्न है कि जिन गैर-आदिवासियों के द्वारा आदिवासियों के विषय पर लिखा जा रहा है, न तो उनका उन आदिवासियों के जीवन से परिचय है और न ही वे आदिवासियों के जीवन से परिचय के इच्छुक हैं एवं इसके लिए आदिवासियों के इलाकों में जाकर समय गुजारने के लिए बहुत तैयार दिखते हैं। इसीलिए इनका आदिवासियों के जीवन से वैसा गहरा परिचय नहीं है जो लेखन को धार देने के लिए आवश्यक है। ये बातें दलितों के विषय पर लिखने वाले गैर-दलित लेखकों के सन्दर्भ में नहीं कही जा सकती हैं। दलितों के जीवन पर लिखने वाले दलित लेखकों का दलितों के जीवन से वैसा अपरिचय नहीं है जैसा अपरिचय आदिवासियों के विषय पर लिखने वाले गैर-आदिवासी रचनाकारों का आदिवासी जीवन एवं संस्कृति से।

केदार प्रसाद मीणा के अनुसार, "दलित साहित्य पहले दलित राजनीति का सहायक बना, फिर अनुगामी हो गया; पहले हिंदू धर्म के छद्म से लड़ा, फिर उसी के समान अपने धर्मों की स्थापना में लग गया; पहले इसके लेखक संघ बने, फिर लेखकों के निजी संघ बने। दलित विमर्श के इन निरर्थक प्रसंगों से आदिवासी विमर्शकारों ने सीखा था कि व्यावहारिक राजनीति के दबावों और व्यक्तिगत सीमाओं के बावजूद वे अपने विमर्श में मुख्यधारा के फैलाए ऐसे षड्यंत्रों और सचमुच के 'दिकुओं' को पहचानेंगे और साहित्य-विमर्श को आदिवासियों की समस्याओं के निपटारे के लिए एक सृजनात्मक सेतु बनाएंगे।" लेकिन, उन्होंने आदिवासी विमर्श के सन्दर्भ में पिछले दिनों घटी घटनाओं के आलोक में यह आशंका व्यक्त की है कि "आदिवासी विमर्श उपरोक्त षड्यंत्रों से बच कर लगातार उजड़ते-मिटते जा रहे आदिवासियों की आवाज बनेगा या अंदर और बाहर से घुसे 'दिकुओं' के व्यक्तिगत उत्थान का हथियार बन कर रह जाएगा?"

प्रेमचंद के साहित्य में आदिवासी:

यद्यपि प्रेमचंद के कथा-साहित्य में आदिवासियों को जगह नहीं मिली है और न ही उनका आदिवासियों के जीवन से परिचय था, तथापि उनकी रचनाओं में दो जगहों पर आदिवासियों की चर्चा मिलती है: 'गोदान' उपन्यास में और 'सद्गति' कहानी में। गोदान में शिकार-प्रसंग में मेहता और मालती की टोली शिकार ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जंगल के एक ऐसे हिस्से में पहुँच जाती है, जहाँ उनकी मुलाकात वन-कन्या अर्थात् आदिवासी लड़की से होती है। प्रेमचंद ने उस वन-कन्या का चित्रण करते हुए पारंपरिक सौंदर्य चेतना के आलोक में भले ही उसे कुरूप बतलाया हो, [8,9,10]पर उसके मांसल शरीर का वर्णन करते हुए मिस्टर मेहता को उसके प्रति आकृष्ट और उसके सेवा-भाव की प्रशंसा करते हुए दिखलाया है। यह वन-कन्या मेहता की पत्नी की कसौटी पर खड़ी उतरती है, अब यह बात अलग है कि दोहरे मानदंडों के साथ जीने वाले मेहता उसे अपनी पत्नी के रूप में नहीं स्वीकारते, वरन् वह मालती को ऊत्तेजित करने और अपने प्रति आकृष्ट करने के साधन भर में तब्दील होकर रह जाती है। मेहता पूरे प्रसंग में आदिवासी लड़की के 'अंगों का विलास' देखते रहते हैं और मालती से डाँट खाने के बाद आते समय कहते हैं, 'अब मुझे आज्ञा दो,बहन' । प्रेमचंद पूरे प्रसंग में उस आदिवासी लड़की को नाम भी नहीं देते और उसे 'गँवारिन' बनाने की कोशिश करते हैं।

इसी प्रकार 'सद्गति' कहानी आदिवासी संदर्भ में प्रेमचंद के लेखन में आशा की किरण की तरह देखी जा सकती है। इस कहानी में विद्रोही चेतना से लैस एकमात्र पात्र है चिखुरी गोंड़। वह दुखी को पंडित घासीराम के शोषण से बचाने की हर संभव कोशिश करता है, लेकिन धर्मसत्ता के आत्मसातीकरण से उपजे भय के कारण दुखी उससे निकल नहीं पाता और त्रासद मौत का शिकार होता है। उसकी मौत

के बाद चमरौने में जाकर वही दलितों को इस अन्याय की खबर देता और आंदोलित करने की कोशिश करता है, 'खबरदार, मुर्दा उठाने मत जाना। अभी पुलिस की तहकीकात होगी। दिल्लगी है एक गरीब की जान ले ली। पंडितजी होंगे, तो अपने घर के होंगे।' इसके बाद पुलिस के भय से कोई भी दलित लाश उठाने नहीं जाता। इस तरह यह कहानी हिंदू धार्मिक संस्कारों से मुक्त एक गोंड़ के माध्यम से ब्राह्मणवाद के खिलाफ लड़ाई की कहानी है, जिसमें दलित और आदिवासी एकता की जरूरत की ओर संकेत भी है।

गैर-आदिवासियों द्वारा आदिवासी-विमर्श:

स्पष्ट है कि प्रेमचंद भले ही आदिवासी रचनाकार न हों, पर उन्होंने अपनी रचनाओं के जरिये उस महाजनी सभ्यता के विरुद्ध आवाज़ उठाई जिनका आदिवासी जीवन एवं समाज में हस्तक्षेप आज भी बदस्तूर जारी है और जो आदिवासी दमन एवं शोषण के मूल में मौजूद है। इन महाजनों की जड़ें आदिवासी क्षेत्रों में न होकर सेमरी एवं बेलारी जैसे गाँवों में हैं और प्रेमचंद इनकी इन्हीं जड़ों पर प्रहार करते हैं। इसीलिए केदार प्रसाद मीना ने सही ही कहा है कि "प्रेमचंद, रेणु, संजीव और रणेंद्र आदि का साहित्य आदिवासी साहित्य न सही, पर आदिवासियों की समस्याओं पर लिखा गया महत्वपूर्ण साहित्य है।" वे इस निष्कर्ष के साथ उपस्थित होते हैं कि "उनकी रचनाओं में आदिवासी जीवन की झलक उतनी ही है, जितनी उस जगह पर आदिवासी आबादी है।" उनका यह भी प्रश्न है कि यदि आज की आदिवासी राजनीति 'छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम' में संशोधन के जरिये आदिवासियों की जमीन खरीद-बिक्री के मार्ग को प्रशस्त कर रही है, तो इसमें कोई 'प्रेमचंद' क्या कर सकते हैं? इसी प्रकार अगर आदिवासी विमर्श दलित-विमर्श का रास्ता अख्तियार करता है, तो किसी दिन फणीश्वरनाथ 'रेणु' के बारे में भी कहा जा सकता है कि उन्होंने 'मैला आँचल' में संथालों को पिटता दिखा कर आनंद प्राप्त किया या उन्हें अपमानित किया है, जो कि सत्य नहीं है।

आदिवासी समस्याओं पर रणेंद्र और संजीव जैसे अच्छे लेखकों की रचनाओं के पात्रों की ऐसी डायरियों, जिनमें आदिवासी समाज का दर्द दर्ज है, को यह उनकी निजी डायरी कह कर इसके बहाने संपूर्ण रचना को खारिज कर रहे हैं। संजीव-रणेंद्र के आदिवासी इलाकों में काम करने वाले पात्र: सुदीप्त और किशन आदि सभी 'दिकू' नहीं कहे जा सकते। इनकी डायरियाँ महज उनकी निजी डायरियाँ नहीं हैं। ये आदिवासी विस्थापन और उसके खिलाफ संघर्ष के दस्तावेज भी हैं, क्योंकि न तो सरकारें इन्हें दर्ज करती हैं और न विस्थापित करने वाली कंपनियाँ। निरक्षर आदिवासी तो दर्ज कर ही नहीं सकते। ऐसे में इन लेखकों की रचना और इनके पात्रों की डायरियों का महत्व बढ़ जाता है। इसलिए इन लेखकों के साहित्य को 'दिकू' साहित्य कहना आदिवासी विमर्श का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा। 'जनसत्ता' में प्रकाशित आलेख 'आदिवासी विमर्श के रोड़े' के जरिये केदार प्रसाद मीणा आदिवासी-विमर्श को 'सहानुभूति-समानुभूति' के उस विवाद में उलझने से बचने की सलाह देते हैं जिसने दलित-विमर्श को 'साहित्य की राजनीति' में ले जाकर उलझा दिया।

आदिवासियों द्वारा आदिवासी-विमर्श:

पिछले दो दशकों में हिन्दी संसार में आदिवासी लेखकों, विशेषकर झारखंड क्षेत्र के लेखकों ने अपनी पैठ और पहचान बनाई है। आज आदिवासी कलम की धार आँचलिक, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर तक असरदार बन चुकी है। हेराल्ड एस. टोप्पो और रामदयाल मुंडा ने पत्र-पत्रिकाओं में अपनी नियमित उपस्थिति के जरिये 'जंगल गाथा' से लेखक-पत्रकार के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है। सामाजिक-राजनीतिक विश्लेषण के लिहाज से एन. ई. होरो, निर्मल मिंज, रोज केरकेट्टा, प्रभाकर तिर्की, सूर्य सिंह बेसरा और महादेव टोप्पो आदि का योगदान अर्थपूर्ण और महत्वपूर्ण है। पत्रकारिता में विवेचना, साक्षात्कार या रिपोर्ताज की शैली में अपने संवाद को प्रभावी बनाने के लिहाज से वासवी, दयामनी बरला, सुनील मिंज और शिशिर टुडु ने अपनी प्रभावी उपस्थिति दर्ज करवायी है। इनमें अपने वर्ग-समाज-राजनीति-संस्कृति से बाहर की दुनिया के मसलों के बारे में खामोशी दिखती है और यही कारण है कि देश और दुनिया की बेहतरी के लिए इनकी चिंताएँ और सपने अपने परिवेश तक सीमित हैं। अगर आदिवासी-विमर्श को साहित्य-लेखन के धरातल पर देखें, तो आदिवासी रचनाशीलता मुख्य रूप से कविता, कहानी, उपन्यास और संस्मरण के धरातल पर प्रकट होती हैं। आलोचना और व्यंग्य के

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 7.583 | Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 11, Issue 3, May-June 2024 |

क्षेत्र में इनका लेखन अभी आरंभिक चरण में है, लेकिन यहाँ भी बुदु उराँव और मंजु ज्योत्स्ना ने अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई है।

परिणाम

आदिवासी-लेखन हिंदी के अस्मितावादी विमर्शों में सबसे नवीन है। वर्षों से हाशिए पर रखे गये आदिवासी समुदाय को आज साहित्य में जगह मिल रही है और इससे भी अच्छी बात यह है कि इस दिशा में खुद इस समुदाय के लोगों के द्वारा ही पहल की जा रही है। इस दृष्टि से समकालीन कवि अपनी कविताओं में आदिवासियों के जीवन, उनकी स्थितियों, उनके संघर्षों, उनकी आकांक्षाओं और उनके सपनों को कविता में अभिव्यक्त कर रहे हैं। महत्वपूर्ण यह है कि आरंभिक और ज्यादातर आदिवासी साहित्य वाचिक परम्परा का हिस्सा रहा है और इसीलिए यह गीत या कविता के माध्यम से हमारे सामने आता है। यही कारण है कि आदिवासी साहित्य की विधाओं में 'कविता' सर्वाधिक महत्वपूर्ण विधा रही है। इनमें उनके भोगे हुए सत्य के साथ-साथ आदिवासी समाज के सामाजिक-वैयक्तिक जीवन-संघर्ष को अभिव्यक्ति मिली है। इनमें विभिन्न सामाजिक विद्रोह, नारी के जीवन-संघर्ष, विस्थापन, अशिक्षा, अभाव एवं गरीबी और अस्तित्व के प्रश्न को प्रमुखता मिली है।

झारखण्ड की संथाली कवयित्री निर्मला पुतुल ने हिन्दी कविता में अपनी रचना 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' के जरिये अपनी प्रभावी उपस्थिति दर्ज करवायी है। इसी प्रकार 'नदी और उसके संबंधी तथा अन्य नगीत' और 'वापसी, पुनर्मिलन और अन्य नगीत' कविता-संग्रह के जरिये रामदयाल मुंडा ने भी पाठकों और आलोचकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। उनकी परवर्ती कविताओं में प्रकृति और मनुष्य के आदिम राग-विराग की जगह राजनीति और समाज की विसंगतियों ने ले ली है। 'कथन शालवन कगे अंतिम शाल का' और 'विकास का दर्द' में उजाड़ बनते झारखंड की व्यथा-कथा और विसंगतियों का उद्घाटन हुआ है। पिछले वर्षों में ग्रेस कुजूर, मोतीलाल, और महादेव टोप्पो की कई कविताएँ भी खूब सराही गयीं। इन कविताओं की हिन्दी पट्टी की कविताओं से भिन्न एवं विशिष्ट है और इस विशिष्ट पहचान का सम्बन्ध जुड़ता है, प्रतीक चरित्रों और घटनाओं के संष्लिष्ट कथात्मक निवेश और प्रतिरोध के आंचलिक रंग से। इसमें जिस यथार्थ का वर्णन हुआ है, वह अमूर्त नहीं है और न ही यह हवा-हवाई है। दरअसल इसके मूल में सहानुभूति की बजाय समानुभूति है और इसीलिए इसमें सतहीपन की बजाय आदिवासी-जीवन से अंतरंगता परिलक्षित होती है, जिसे निम्न परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है:[7,8,9]

आदिवासी अस्मिता का प्रश्न:
समकालीन हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन को व्यक्त करने वाले कवियों ने अपनी कविता के माध्यम से आदिवासी अस्मिता को पहचाने की कोशिश की है। पूर्वोत्तर के आदिवासियों का आंदोलन अपनी पहचान का आंदोलन है। अपनी पुरातन संस्कृति का ह्रास और उसमें आनेवाली विकृतियों को देखकर उनका कवि-मन तिलमिला उठता है। वह देखता है कि पश्चिम के हस्तक्षेप के कारण उसकी हीन-भावना गहराती जा रही है और इस मनःस्थिति में 'दिकुओं' के द्वारा उसका इस्तेमाल आसान हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे अपनी ही जमीन एवं अपनी ही बिरादरी के प्रति गद्दारी से भी परहेज़ नहीं होता। यह आदिवासी-अस्मिता पर उत्पन्न संकट को गहराने का काम करता है। यह स्थिति आदिवासी कवियों को इस प्रभाव एवं इस प्रभाव में अपने ऊपर लादे गए संस्कार पर करारे प्रहार के लिए विवश करती है। यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें मेघालय के कवि 'पॉल लिंग दोह' की 'बिकाऊ है' कविता इस स्थिति के लिए आदिवासियों को ही जिम्मेवार मानती है और उन्हें कोसते हुए कहती है:
बिकाऊ है हमारा स्वाभिमान,
हमारी मान्यताएँ,
हमारी सामूहिक चेतना,
अतिरिक्त बोनस: ये सारी चीजें लुटाने के भाव उपलब्ध हैं।
विशेष: संपर्क के लिए टेलिफोन नंबर की जरुरत नहीं,
हमारे एजेंट हर कहीं हैं।

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 7.583 | Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 11, Issue 3, May-June 2024 |

स्पष्ट है कि आदिवासी की मूल पहचान उसकी संस्कृति से जुड़ी हुई है। जबतक यह संस्कृति है, तबतक उनकी पहचान सुरक्षित है और जैसे ही यह संस्कृति खतरे में पड़ेगी, उनकी पहचान खतरे में पड़ जायेगी। आज वाकई बाजारवाद के कारण आदिवासियों की यह पहचान खतरे में है।

संकट के मूल में मौजूद है बाज़ारवाद:

अब यह प्रश्न सहज ही उठता है कि आदिवासी अस्मिता के इस संकट के लिए जिम्मेवार कौन है? भूमंडलीकरण और उदारीकरण के इस दौर में विकास और नए भारत के निर्माण के नाम पर आदिवासियों को अपनी पैतृक सम्पति को बाज़ार के भाव बेचेने और जल, जंगल एवं ज़मीन से बेदखल करने की कोशिशें हो रही हैं। फलतः आदिवासी बेदखल होकर पलायन को मजबूर हैं और इसके कारण आदिवासी भाषा एवं संस्कृति खतरे में है। आदिवासी समाज अपनी संस्कृति और भाषा को बचाने की जद्दोजहद कर रहा है। आदिवासी समाज में मौजूद परंपरागत खेलों से लेकर आदिवासियों की लोक-कला तक विलुप्त होने के कगार पर पहुँच चुकी है। वामन शेलके आदिवासी की इस स्थिति को अपनी कविता में इस प्रकार दर्शाते हैं:

सच्चा आदिवासी
कटी पतंग की तरह भटक रहा है;
कहते हैं, हमारा देश
इक्कीसवीं सदी की ओर बढ़ रहा है।

इन लेखकों और कवियों ने यह समझा कि इन सबके मूल में बाज़ार और बाज़ारवाद, जिसके दबाव में जल, जंगल और ज़मीन: ये सब ठिकाने लगाये जा रहे हैं। मदन कश्यप ने अपनी कविता "आदिवासी " में बाज़ार के इस क्रूर एवं भयावह चेहरे की इशारा करते हुए लिखा है:

ठण्डे लोहे-सा अपना कन्धा ज़रा झुकाओ,
हमें उस पर पाँव रखकर लम्बी छलाँग लगानी है,
मुल्क को आगे ले जाना है।
बाज़ार चहक रहा है
और हमारी बेचैन आकांक्षाओं में साथ-साथ हमारा आयतन भी
बढ़ रहा है,
तुम तो कुछ हटो, रास्ते से हटो।

बाज़ार के बढ़ते आतंक का आलम यह है कि 'ऐसा कोई सगा नहीं, जिसे बाज़ार ने ठगा नहीं' , शायद इसीलिए अनुज लुगुन कह उठते हैं:

बाज़ार भी बहुत बड़ा हो गया है,
मगर कोई अपना सगा दिखाई नहीं देता।
यहाँ से सबका रूख शहर की ओर कर दिया गया है:
कल एक पहाड़ को ट्रक पर जाते हुए देखा,
उससे पहले नदी गयी,
अब खबर फैल रही है कि
मेरा गाँव भी यहाँ से जाने वाला है।

वर्ग-शत्रुओं की पहचान:

इस बाज़ारवाद और बाज़ारवादी मानसिकता के दबाव में इस तथाकथित सभ्य समाज ने आदिवासियों को भी प्रदर्शन की वस्तु और कमाई के जरिये में तब्दील कर दिया है जो उनकी बदहवासी को कम करने की बजाय बढ़ाने में कहीं अधिक सहायक है। आदिवासी समाज इस बात से वाकिफ है कि यह सहानुभूति नहीं, सहानुभूति का छद्म है जिससे उनकी स्थिति नहीं परिवर्तित होने वाली। वे कल की तरह आज भी हाशिये पर हैं, शोषित और उपेक्षित। वाहरु सोनवने की 'स्टेज' कविता में आदिवासियों से छद्म सहानुभूति रखनेवाली शोषणकारी शक्तियों को बेनकाब करती हुई कहती है:

हम स्टेज पर गए ही नहीं,
और हमें बुलाया भी नहीं गया;
उँगली के इशारे से
हमें अपनी जगह दिखा दी गई,

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 7.583 | Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 11, Issue 3, May-June 2024 |

हम वहीं बैठे रहे,
हमें शाबासी मिली,
और वे मंच पर खड़े होकर
हमारा दुख हमसे ही कहते रहे,
हमारा दुख हमारा ही रहा,[9,10]
कभी उनका नहीं हो पाया।
हमने अपनी शंका फुसफुसाई,
वे कान खड़ेकर सुनते रहे,
फिर ठण्डी साँस भरी,
और हमारे ही कान पकड़ हमें डाँटा
माफी माँगो, वरना-------।

निर्मला पुतुल भी अपनी कविताओं के जरिये ऐसे ही 'दिकुओं' और उनके षड्यंत्रों से आदिवासी समाज को बार-बार सावधान करती हैं। उन्होंने भविष्य के सुनहले सपने की आड़ में छले जाते आदिवासियों को आगाह करते हुए प्रश्न किया है:

कहाँ गया वह परदेशी,
जो शादी का ढ़ोंग रचाकर
तुम्हारे हीं घर में
तुम्हारी बहन के साथ
साल-दो-साल रहकर अचानक गायब हो गया?

निर्मला पुतुल की तरह ही भुजंग मेश्राम ने 'उलगुलन' काव्य-संग्रह में शामिल ग्रैंड फादर' शीर्षक कविता में ईसाई पादरियों की पोल खोलते हुए कहा है:

वे आए तब,
उनके हाथ में था बाइबिल
और हमारे हाथों में जमीन;
वे बोले: ईश्वर के पास भेद नहीं है,
कोई काला या गोरा, करो प्रार्थना
बंद करो आँखें, हमने बंद की आँखें;
जब आशा से आँखें खोली, तो देखा:
उनके हाथ में जमीन थी
और हमारे हाथ में बायबल।

उनकी रचनाएँ इस ओर भी इशारा करती हैं कि आज आदिवासी समाज को गैर-आदिवासी शोषकों 'दिकुओं' से ही नहीं, वरन् अपने ही समुदाय से आनेवाले रहनुमाओं से भी खतरा है। सरकार द्वारा वित्त-प्रदत्त(Funded) गैर-सरकारी संगठन(NGO) बड़ी चालाकी से आदिवासियों के हितैषी के ताने-बाने में आदिवासियों के संसाधनों तक पहुँचने की कोशिश में लगे हैं और इस बहाने आदिवासी शोषण-तंत्र को मजबूती से स्थापित किया जा रहा है। निर्मला पुतुल अपनी रचनाओं के जरिये इस बात को लेकर अपनी चिंता प्रदर्शित करती हैं कि आदिवासी लड़कियों के आदिवासी शोषक जाँच-सिद्ध दोषी होकर भी इन्हीं के हितैषी बने घूम रहे हैं। इसीलिए उन्होंने आदिवासी समाज के अस्मिता-संकट के लिये इसके नेतृत्व को ही जिम्मेवार माना है और प्रकारांतर से आदिवासियों की जीवनगत त्रासदी के कारणों की तलाश उनके ही चरित्र में जाकर की है:

कैसा बिकाऊ है
तुम्हारी बस्ती का प्रधान
जो सिर्फ एक बोतल विदेशी दारू में
रख देता है
पूरे गाँव को गिरवी
और ले जाता है
लकड़ियों के गठ्ठर की तरह

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 7.583 | Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 11, Issue 3, May-June 2024 |

लादकर अपनी गाड़ियों में,
तुम्हारी लड़कियों को
हजार पाँच-सौ
हथेलियों पर रखकर।

आज आदिवासी समाज के ये स्वयंभू ठीकेदार और इनकी गतिविधियाँ आदिवासी विमर्श की राह में बड़ा रोड़ा बनने लगी हैं क्योंकि ये लगातार अपने वर्चस्व के खंडित होने की आशंका से आशंकित हैं और उन्हें लग रहा है कि कहीं वे बेनकाब न हो जायें। इसीलिए वे ऐसे वर्ग-शत्रुओं एवं उनकी मानसिकता के खिलाफ एकजुट होकर संघर्ष करने की प्रेरणा देती हैं। वे 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' में अपने वर्ग-शत्रुओं को चेतावनी भरे लहजे में कहती हैं:

"आज की तारीख के साथ
कि गिरेंगी जितनी बूँदे लहू की पृथ्वी पर,
उतनी ही जनमेंगी निर्मला पुतुल,
हवा में मुठ्ठी-बँधे हाथ लहराते हुए।"

महाराष्ट्र के विनायक तुमराम ने कर्ण एवं एकलव्य की परम्परा से खुद को जोड़ते हुए आदिवासियों पर लम्बे समय से हो रहे अत्याचार के विरुद्ध अपने मन के आक्रोश को अभिव्यक्ति देते हुए कहा है:

मैं जला डालूँगा प्रस्थापितों के
निर्लज्ज दर्शन को
जो दर्शन मेरी आयु की
जात पूछता है।

उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से एकलव्य से बातचीत हुए उसके साथ हुए अन्याय को अपनी कविता में वाणी दी है और आदिवासियों की ओर से विकास के इन ठेकेदारों को चेतावनी भरे लहजे में कहा है:

"मित्रवर, तुम्हारे तरकश में
तड़पने वाले तीक्ष्ण तीर से
करूँगा मैं क्रान्ति,
बनाऊँगा क्रान्ति की मशाल,
तुम्हारे अँगूठे से बहे रक्त से
लिखूँगा मृत्यु-लेख।

वे शोषक वर्ग के द्वारा शोषण के लिए इस्तेमाल में लाये जानेवाले उपकरणों को ही प्रतिरोध का हथियार बनाने का हौसला प्रदर्शित करते हैं, और यह सब संभव होता है उस जिजीविषा एवं जीवटता के कारण, जो आदिवासी जीवन से अभिन्न है और जो तमाम विपरीतताओं के बीच उनके लिए संबल बनकर आती है। इसी की बदौलत वे प्रतिरोध की दिशा में पहल करते हैं, पर इसके लिए उन्हें गहन आत्मसंघर्ष की मनोदशा से गुजरना पड़ता है जिसे अभिव्यक्ति देते हुए अनुज लुगुन ने कहा है:

लड़ रहे हैं,
नक्शे में घटते अपने घनत्व के खिलाफ,
जनगणना में घटती संख्या के खिलाफ,
गुफाओं की तरह टूटती अपनी ही जिजीविषा के खिलाफ,
इनमें भी वही आक्रोश है,
जो या तो अभावग्रस्त हैं,
बाकी तटस्थ हैं।

पारंपरिक आदिवासी विद्रोही चेतना से प्रेरणा ग्रहण करना:

आदिवासी साहित्य अपनी रचनात्मक उर्जा आदिवासी विद्रोह की परंपरा से लेता है। इसलिए आदिवासी साहित्य को अन्य साहित्य की तुलना में विद्रोही साहित्य या जीवनवादी साहित्य कहा जाता है। आदिवासी जनजीवन का चित्रण करने वाले कवियों ने इतिहास से बेदखल आदिवासी नायकों को महत्व देकर आदिवासियों के नये इतिहास के सृजन के लिए नयी जमीन की तलाश की है। ऐसे नायकों में आदिवासियों की जमीन, जंगल, और अस्मिता के लिए अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष करने वाले बिहार-झारखण्ड के बिरसा मुंडा, सिद्धो-कान्हो और तिलका माँझी से लेकर कालिबाई, झलकारी बाई और

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 7.583 | Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 11, Issue 3, May-June 2024 |

मणिपुर की रानी गौडेन्ल्यू तक शामिल हैं। इन्हीं विद्रोहियों में शामिल थी रानी अवंतीबाई, जिसके विद्रोही रुप ने समाज में क्रांति के बीज बोने और क्रांतिकारियों में जोश भरने का कार्य किया। 1857 की क्रांति में यह गीत आत्मविभोर होकर गाया गया:

"दुर्गा मय्या खड्ग खींच आओ,
बैरी को मार भगाओ।
बहुत दिनन से तड़प रहे है,
अब आकर लाज बचाओ।"

ग्रेस क्रुजुर युद्ध के मैदान में मुगलों से अकेले दो-दो हाथ करने वाली सिनगी दई को याद करती है। उसकी अनुपस्थिति उसे सालती है और इसीलिए वे आदिवासी स्त्रियों में आकार ग्रहण करती नवीन चेतना को अभिव्यक्ति देती हुई[10,11,12] सिनगी दई को प्रतिरोधी आवाज़ के प्रतीक में तब्दील कर देती है। 'एक और सिनगी दई' बनने की आकांक्षा व्यक्त करती हुई वह कहती है:

"अगर अब भी तुम्हारे हाथों की
उंगलियाँ थरथराई, तो जान लो:
मैं बनूँगी, एक बार और सिनगी दई।"

प्रतिरोध का स्वर:

विस्थापन की समस्या और अस्तित्व के संकट से जूझ रहे आदिवासियों के पास पेट भरने के लिए कमाने का कोई साधन शेष नहीं रह गया है। ऐसी स्थिति में मजबूरन ये प्रतिरोध के लिए विवश हैं, लेकिन इनके प्रतिरोध से चिंतित सरकार इन्हें नक्सलवादी घोषित कर कुचल डालने पर आमदा है। इसीलिए वर्तमान में न केवल आदिवासियों का अस्तित्व संकट में है, वरन् उनकी पहचान की समस्या भी लगातार गहराती जा रही है। और, यह सब संभव हो पा रहा है विकास के नाम पर। इसीलिए विकास के नाम पर होनेवाले इन षड्यंत्रों का खुलासा करती हुई निर्मला पुतुल कहती हैं:

अगर हमारे विकास का मतलब
हमारी बस्तियों को उजाड़कर कल-कारखाने बनाना है।
तालाबों को भापकर राजमार्ग,
जंगलों का सफाया कर ऑफिसर्स कॉलोनियाँ बसाती हैं,
और पुनर्वास के नाम पर हमें
हमारे ही शहर की सीमा से बाहर हाशिए पर धकेलना है,
तो तुम्हारे तथाकथित विकास की मुख्यधारा में
शामिल होने के लिए
सौ बार सोचना पड़ेगा हमें।

उनकी कविता "तुम्हारे अहसान लेने से पहले सोचना पड़ेगा हमें" से उद्धृत इस अंश में आदिवासियों में आकार ग्रहण करती नवीन चेतना को अभिव्यक्ति देते हुए यह बतलाने की कोशिश की गयी है कि आदिवासी समुदाय धीरे-धीरे अपने शोषण-तंत्र से वाकिफ हो रहा है और अपने विरुद्ध होने वाले हर षड्यंत्रों को समझने लगा है। उसे मलाल इस बात का है कि उसे सामान्य मनुष्य की बजाय जंगली, वनवासी, असभ्य और संविधान में आरक्षित मनुष्य के रूप में देखा जा रहा है। महादेव टोप्पो अपनी कविता 'त्रासदी' में आदिवासी समाज की इस विडम्बनापूर्ण स्थिति को अभिव्यक्ति देते हुए लिखते हैं:

इस देश में पैदा होने का
मतलब है
आदमी का जातियों में बँट जाना,
और गलती से तुम अगर हो गए पैदा
जंगल में,
तो तुम कहलाओगे
आदिवासी-वनवासी-गिरिजन
वगैरह-वगैरह;
आदमी तो कम-से-कम
कहलाओगे नहीं ही।"

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 7.583 | Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 11, Issue 3, May-June 2024 |

लेकिन, उनकी यह विडंबनात्मक स्थिति कहीं-न-कहीं सभ्य समाज की तथाकथित सभ्यता को बेपर्द करती है और इसीलिए उसे अपने आदिवासी होने का गुमान है। डॉ. भीम की कविता "हम आदिवासी हैं" में आदिवासी होने के इसी गुमान को अभिव्यक्ति मिली है। साथ ही, इसमें आदिवासियों के शोषण के दुष्चक्र को भी उद्घाटित करते हुए कहा गया है:

इस देश के मूल निवासी हैं,
हम आदिवासी हैं,
हम आदिवासी हैं।
हमारा जीवन सहज
सरल एवं न्यायपूर्ण है, फिर भी,
सदियों से शोषण का चक्र चला,
सदा उसने हमें दबोचने का यत्न किया,
सत्ताधारी, पूँजीपति,
सेठ, साहूकार, ठेकेदार,
पुलिस, सरकारी कर्मचारी,
सबने हमारा शोषण किया, दमन किया,
जल, जंगल, जमीन से
पहाड़ों, झीलों एवं नदियों से
हमें बेदखल करने का भरपूर प्रयास किया,
हमारी रोजी-रोटी हड़पने का ज़ोरदार यत्न किया।
हम आदिवासी हैं।

आदिवासियों के भविष्य की संभावनाओं को कुचलते विकास के पहिए का चित्रण करते हुए अण्डमान के आदिवासी कवि हरिराम मीणा भी लिखते हैं:

"समुद्रों से उठ रही है आग की लपटें
पृथ्वी की सारी सभ्यता
एक भीमकाय रोडरोलर की मानिन्द
लुढ़कती आ रही है हमारी जानिव
और हम बदहवास। "

'सुबह के इंतजार में' काव्य-संकलन से उद्धृत इस काव्यांश में अण्डमान के आदिवासियों की मनोदशा का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। यही कारण है कि धीरे-धीरे आदिवासियों को विकास विनाश लगने लगा और इसकी पृष्ठभूमि में उनका सरकार पर से भरोसा भी उठता चला गया। वह उसके प्रति ईर्ष्या और घृणा के भाव से भर उठा है जिसे आदिवासी साहित्य में अभिव्यक्त होते हुए देखा जा सकता है।

आदिवासियों खिलाफ हो रहे इस सारे षड्यंत्र को समकालीन कविता अपना विषय ही नहीं बनाती है, बल्कि उनके खिलाफ प्रतिरोध की एक जमीन तैयार करने का काम करती है:

"ओ रे
मानवता के आदिम नुमाइंदों,
तुम जंगली ढ़ोर, गँवार हो
एक सलाह है तुम्हें सभ्य बनाने की
रोपना होगा, मुख्यधारा की उर्वरा भूमि पर।"

अनुज लुगुन 'पूँजीवादी विकास-प्रक्रिया से पैदा हुए अमानवीय विस्थापन, आदिवासी राजनीती के बुर्जुआकरण और धर्मान्तरण की राजनीति जैसे सवालों को एकसाथ उठाते हुए बेबस आदिवासियों के द्वारा अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए किये जा रहे प्रयासों को 'अघोषित उलगुलान' की संज्ञा देते हैं और इन बेबस आदिवासियों के के बारे में लिखते हैं:

कंक्रीट से दबी पगडंडी की तरह
दबी रह जाती है जिनके जीवन
की पदचाप

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 7.583 | Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 11, Issue 3, May-June 2024 |

बिल्कुल मौन।
अपनी कविता 'अघोषित उलगुलान' में उन्होंने जीने के लिए आज के आदिवासियों के संघर्ष का चित्रण करते हुए लिखा है:[11,12]

वे जो शिकार खेला करते थे निश्चिंत
ज़हर बुझे तीर से,
या खेलते थे रक्त-रंजित होली,
अपने स्वत्व की आँच से।
खेलते हैं शहर के
कंक्रीटीय जंगल में
जीवन बचाने का खेल।
शिकार शिकार बने फिर रहे हैं
शहर में,
अघोषित उलगुलान में
लड़ रहे हैं जंगल।

स्पष्ट है कि आदिवासी साहित्य आदिवासियों की अस्मिता के संकट को अभिव्यक्ति देता हुआ उनके शारीरिक एवं मानसिक शोषण के चित्र तो खींचता है, पर इसके प्रतिरोध के तरीकों और इसके मानदंडों का चित्रण नहीं करता है। यह उन्हें प्रतिरोध के लिए तैयार नहीं करता है। शायद इसीलिए हनुमान प्रसाद मीना कहते हैं कि "इसके लिए हमें उनकी विचारधारा को साथ लेकर एक नया आंदोलन खड़ा करना होगा, तब ही आदिवासी संस्कृति को एक नया आयाम दे सकते हैं।" हनुमान सहाय मीना का कहना है कि गैर-आदिवासियों के द्वारा आदिवासी-लेखन के साथ न्याय संभव नहीं हो पा रहा है और आदिवासी-साहित्य को तोड़-मरोड़कर पेश करनी की कोशिश की जा रही है। इसीलिये उनका कहना है कि आदिवासी साहित्य पर लिखने से पहले उसकी विचारधारा को समझना जरूरी है।

सतत विकास के प्रति संवेदनशीलता:

आदिवासी जनजातियाँ सदियों से जंगलों में रहती आयीं हैं और उन्होंने वहाँ के संसाधनों का इस्तेमाल इस प्रकार किया है जिससे उसे नुकसान न हो। लेकिन, औपनिवेशिक शासन के दौरान विकास के नाम पर संसाधनों का अंधाधुंध दोहन शुरू हुआ और यह प्रक्रिया उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के पिछले तीन दशकों के दौरान और तेज़ होती चली गयी। यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें आदिवासियों की रचनाएँ जंगल का आग्रह लेकर उपस्थित होती हैं। महादेव टोप्पो की कवितायेँ इसके प्रमाण हैं:

"वह धनुष उठाएगा,
प्रत्यांचा पर कलम चढाएगा,
साथ में बाँसुरी और माँदर भी जरुर उठाएगा,
जंगल के हरेपन को बचाने के खातिर।
जंगल का कवि
माँदर बजाएगा
चढ़ा कर प्रत्यांचा पर कलम।

आदिवासी कवयित्रियों में ग्रेस कुजूर की आत्मा उजरते जंगलों को देखकर चीत्कार कर उठती हैं और वे अपने प्राकृतिक आवास की रक्षा के लिए आदिवासियों का आह्वान करती हुई कहती हैं:

हे संगी!
क्यों घूमते हो
झुलाते हुए खाली गुलेल?
क्या तुम्हें अपनी धरती की
सेंधमारी सुनाई नहीं दे रही?
क्या अब भी निहारते हो
अपने को,
दामोदर और स्वर्ण रेखा के
काले जल में

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 7.583 | Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 11, Issue 3, May-June 2024 |

किसने की है चोरी
भिनसरिया में ठेकी के संगीत की,
और उखाड़ी है किसने
आजी के जाने की कील?
'पुटुस' तक को
उखाड़ कर ले जाएँगे लोग
और धन
तुम खोजोगे उसकी बची हुई जड़ों में
अपना झारखंड,
हंडिया और दारू से सींचकर
क्या किसी ने उगाया है
कोई जंगल?"

आदिवासियों का अस्तित्व जंगल के अस्तित्व से एकमेक है और इसीलिये उनके अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न जंगल के अस्तित्व की रक्षा के प्रश्न से सम्बद्ध हो गया है। इसीलिए ग्रीस कुजूर बिरसा मुंडा की परम्परा की याद दिलाती हुई इसकी रक्षा के लिए आदिवासी नवयुवकों को ललकारती हुई कहती हैं:

तानों अपना तरकस।
नहीं हुआ भोथरा अब तक
बिरसा आवा का तीर,
सूरज के लाल 'गोढ़ा' को
गला दो अपनी हथेलियों की
गर्मी से।

आदिवासी स्त्री की अस्मिता का प्रश्न:

अंग्रेजों के साथ-साथ जमींदारों, साहूकारों और महाजनों के द्वारा उनके शारीरिक शोषण और पुरुषों के उनके प्रति अमानुषिक बर्ताव और उनके दमन, शोषण एवं उत्पीड़न की लम्बी परम्परा रही है तथा इसके विरुद्ध उन्होंने समय-समय पर आवाज़ भी बुलंद की है। इतना ही नहीं, आदिवासी समाज के सामने विस्थापन एक ऐसी समस्या के रूप में सामने आती है जो उन्हें सांस्कृतिक, मानसिक और भौगोलिक तौर पर बदलकर रख देती है और इसकी पृष्ठभूमि में आदिवासी स्त्रियाँ देह में तब्दील होकर रह जाती हैं। सभ्य समाज उसकी देह की गंध से रोमांचित हो उठता है और फिर शुरू होता है[9,10,11] देह को खरीदने एवं बेचने का अंतहीन सिलसिला।

यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें आदिवासी साहित्य में स्त्रियों के बहुत से सवालों को महत्व मिला है। इसमें इस समाज की प्रताड़ित महिलाओं की पीड़ा एवं वेदना, उनकी अंतर्वेदना, उनकी कराह एवं चीख और मदद के लिए उनके द्वारा लगाई जा रही गुहारें पहाड़ों, जंगलों और घाटियों में बज रहे नगाड़े की तरह गूँज उठती हैं। निर्मला पुतुल की कवितायें इसकी प्रमाण हैं जिनमें आदिवासी स्त्री के जीवन का चित्रण करते हुए स्त्री-अस्मिता का सवाल उठाया गया है और आदिवासी समाज के साथ-साथ स्त्री के विविध पहलू पर भी टिप्पणी की गयी है। उन्होंने तथाकथित शहरी सभ्य समाज की मानसिकता पर प्रहार करते हुए उसे बेनकाब किया है और लिखा है: "ये इनके कालेपन से घृणा करते हैं, इनके अनपढ़ होने पर व्यंग्य करते हैं, इनकी भाषा का मजाक उड़ाते हैं, उन्हें हिकारत से देखते हैं, उनके हाथों से पानी नहीं पीते हैं, उनकी नज़रों में उनका सब कुछ अप्रिय है" , किन्तु:

प्रिय है तो बस मेरे पसीने से पुष्ट हुए अनाज के दाने,
जंगल के फूल, फल, लकड़ियाँ
खेतों में उगी सब्जियाँ/घर की मुर्गियाँ
उन्हें प्रिय है
मेरी गदराई देह,
मेरी माँस प्रिय है उन्हें।

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 7.583 | Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 11, Issue 3, May-June 2024 |

उन्होंने अपनी कविता 'तुम कहाँ हो माया' में रोजगार की तलाश में दिल्ली पहुँची आदिवासी लड़की से यह प्रश्न करते हुए उनके भयावह दैहिक एवं मानसिक शोषण की ओर इशारा किया है:

"दिल्ली के किस कोने में हो हो तुम?
मयूर विहार,पंजाबी बाग या शाहदरा में?
कनाट प्लेस की किसी दुकान में
सेल्सगर्ल हो या
किसी हर्बल कंपनी में पैकर ?
कहाँ हो तुम, माया? कहाँ हो?
कहीं हो भी सही सलामत या
दिल्ली निगल गयी तुम्हें?"

लेकिन, अब उन्हें ये सारी बातें समझ में आने लगी हैं। इसीलिए वे अपनी कविता 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' के माध्यम से चेतावनी भरे लहजे में कहती हैं:

"मैं चुप हूँ, तो मत समझो की गूँगी हूँ,
या कि रखा है मैंने आजीवन मौन-व्रत;
गहराती चुप्पी के अंधेरे में सुलग रही है भीतर
जो आक्रोश की आग।"

इसी चेतना का विस्तार सरिता बड़ाइक की कविताओं में हुआ है जिनमें औरत के वस्तुवादीकरण का विरोध करते हुए उनकी आज़ादी के सपनों को सँजोया गया है। उनकी कविता 'मुझे भी कुछ कहना है ' में एक स्त्री अपने अस्तित्व की चाह को अभिव्यक्ति देती हुई अपने प्रियतम को सन्देश देती है:

"चुल्हे-बिस्तर की परिधि में
मुझे नहीं है रहना,
गऊ चाल में चलकर नहीं है थकना,[10,11,12]
मन में भरी है कविता,
मंजुर नहीं है थमना।
हे प्रियवर।... "

रमणिका गुप्ता ने इनकी कविताओं पर टिप्पणी करते हुए कहा है, "सरिता की मोर-पंखी भाषा इतनी बहुरंगी है कि झारखंड के हर तेवर को पकड लेती है। वे न केवल झारखंड के गाँवों की धड़कनों को स्वर देती हैं, बल्कि झारखंड के हर निवासी की, चाहे वह किसी आयु, स्तर, वर्ग, वर्ण का क्यों न हो, उनके बिंब सरल-सहज शब्दों में खड़ा कर देती है।" लेकिन, उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की पृष्ठभूमि में स्त्री-अस्तित्व के समक्ष उत्पन्न इन चुनौतियों से इतर हटकर डॉ. मंजू ज्योत्स्ना की 'ब्याह' कविता अमीर खुसरो की 'काहे को ब्याहे परदेश, सुन बाबुल मोरे' की याद दिलाती है। उन्होंने इस कविता के माध्यम से ब्याह के कगार पर खड़ी आदिवासी स्त्री के मन की आशंकाओं को अभिव्यक्ति देते हुए उस पुरुष जाति के विरोध में आवाज़ उठायी है जो स्त्री को सिर्फ चुल्हा और बिस्तर के माफिक समझता है:

"पिता मेरी शादी मत करना!
मैंने देखी है- बुधनी की जिंदगी,
बाल-बच्चे सँभाल खेत में खटती है,
उसका मर्द साँझ, सवेरे, रात
मारता है कितना।"

स्पष्ट है कि स्त्री-जीवन के संघर्ष को अभिव्यक्ति देते हुए इन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से आदिवासी स्त्री के मन के दरवाजें खोलकर उनकी चिंतनशीलता, संवेदनशीलता, उनके नेतृत्व-गुणों और अंत:प्रेरणाओं को बाहर निकाला है। यहाँ पर आदिवासी स्त्रियों को अपनी अंध-श्रद्धाओं, परंपराओं, रूढ़ियों, चुल्हा और बच्चे के मकड़जाल से मुक्त होने की करने की कोशिश की है।

यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें आदिवासी विमर्श हिन्दी की तमाम अस्मितावादी विमर्शों में अपनी भिन्न एवं विशिष्ट पहचान बनता हुआ उपस्थित होता है। जहाँ स्त्रीवादी विमर्श की परम्परा में लिखे गए साहित्य में जाति के प्रश्न की अनदेखी करते हुए सिर्फ स्त्री जाति के हकों और अधिकारों की बात की गयी है और

दलितों, आदिवासियों और मुस्लिम स्त्रियों के प्रश्नों से आँखें चुराई गयी है, वहीं दलित-साहित्य भी स्त्री के सवालों से नज़रें चुराता दिखाई पड़ता है जिसके कारण दलित-स्त्री विमर्श का आधार तैयार होता है। लेकिन, इन दोनों से भिन्न आदिवासी साहित्य स्त्री के प्रश्न को बड़ी बखूबी से उठता है। यही कारण है कि इसमें स्त्रियाँ बड़ी तादाद में मौजूद हैं, पुरुषों के कंधे से अपना कंधा मिलाते हुए, ठीक आदिवासी समाज की तरह।

काव्यगत सौंदर्य का सन्दर्भ:
आदिवासियों के द्वारा लिखी जा रही कविताओं में जिन प्रतीकों, बिम्बों और मिथकों का प्रयोग किया जा रहा है, वे उनके जीवन और उनकी संस्कृति से उठाये जा रहे हैं। इनमें मिथक उन लोक-परंपराओं से उठाये गए हैं जिनका संबंध उनके समाज एवं संस्कृति के साथ जुड़ता है और इसीलिए वे प्रचलित मिथकों से बिल्कुल अलग हैं। उनके मिथक प्राचीनतम ग्रन्थों से संपृक्त रहते हैं और ये प्रकृति से गहरे स्तर पर सम्बद्ध होते हैं। इस तरह इनकी कविता में प्रसंग अनायास ही जुड़ते चले आते हैं। स्पष्ट है कि आदिवासी कविता वह जमीन तैयार करती है जो आदिवासी समाज और साहित्य के विविध पहलुओं को समझने में मददगार है।

हिन्दी जगत पहले-पहल आदिवासी समाज से रूबरू हुआ रेणु के आँचलिक उपन्यास 'मैला आँचल ' में, जब उसने अपने जमीनी हक से बेदखल संथालों को अपने स्वत्व और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते देखा। यहीं उसका परिचय आदिवासियों की जिजीविषा और जीवटता से भी हुआ और उसने देखा कि प्रशासन की बेरुखी और जुल्म का शिकार होने के बावजूद माँदर एवं डिग्गे की आवाज़ बंद नहीं हो पाई। लेकिन, एक सच्चे हमदर्द की तरह पीड़ित संथालों के प्रति सहानुभूति के बावजूद यह संघर्ष तार्किक परिणति तक नहीं पहुँच पाता, फलतः उनके जीवन में बदलावों को ला पाने में असमर्थ रहता है। रेणु की समाजवादी यथार्थवादी चेतना और उनका यथार्थवादी आग्रह उन्हें इस समस्या का काल्पनिक एवं आदर्शपरक समाधान देने से रोक देता है। ऐसा नहीं कि 'मैला आँचल ' के बाद आदिवासी जीवन को लेकर रचनाएँ नहीं आयीं, पर उनमें, विशेषकर बस्तर जैसे अंचलों को लेकर लिखी गयी रचनाओं में लेखक की दिलचस्पी स्वच्छंद प्रेम की घोटुल-प्रथा जैसे अतिरेकवादी तत्वों को लेकर कहीं ज्यादा थी। आगे चलकर महाश्वेता देवी के उपन्यास 'हजार चौरासी की माँ ' एक सशक्त एवं प्रभावी हस्तक्षेप के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज करवायी और नक्सलवाद को लेकर एक नए नज़रिए से हिन्दी जगत को रूबरू करवाया। उन्होंने यह बतलाने की कोशिश की कि नक्सली हिंसा ऐतिहासिक परिस्थितियों और एक लम्बे समय से चले आ रहे ऐतिहासिक अन्याय की उपज है। अपने परवर्ती उपन्यासों में भी महाश्वेता देवी ने आदिवासियों की विद्रोही चेतना को अभिव्यक्ति देते हुए हिन्दी के पाठकों को बिरसा मुण्डा जैसे महानायक से परिचित करवाया।

लेकिन, औपन्यासिक धरातल पर आदिवासी विमर्श की परम्परा 1980 के दशक में शुरू होते देखा जा सकता है। हेराल्ड एस. टोप्पनो के अधूरे (प्रकाशित) उपन्यास को पढ़ते हुए एक विस्फोटक संभावना से भेंट होती है। आठवें दशक में वाल्टर भेंगरा ने झारखण्ड अंचल और वहाँ के जीवन को केंद्र में रखते हुए 'सुबह की शाम' उपन्यास लिखा जो आदिवासियों के द्वारा लिखा गया पहला हिन्दी उपन्यास है। पिछले दशक में उनके तीन उपन्यास: 'तलाश', 'गैंग लीडर' और 'कच्ची कली' प्रकाशित हुए। लेकिन, पिछले दिनों पीटर पाल एक्का के उपन्यास 'जंगल के गीत' की सबसे अधिक चर्चा हुई जिसके जरिये एक्का ने बिरसा मुण्डा के उलगुलान के संदेश को तुंबा टोली गाँव के युवक करमा और उसकी प्रिया करमी के माध्यम से पहुँचाने की कोशिश की। इससे पहले भी उनका एक उपन्यास 'मौन घाटी' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। झारखंड के इन आदिवासी कथाकारों की समस्या यह है कि वे आधुनिक लेखन के सामयिक रूझानों और शिल्प-साँचों से अपरिचित प्रतीत होते हैं। लेकिन, मुख्यधारा इसकी कुछ हदतक भरपाई करती हुई आती है। इस दृष्टि से रमणिका गुप्ता के उपन्यास 'सीता-मौसी' और कैलाश चंद चौहान के उपन्यास 'भँवर' के साथ-साथ संजीव एवं रणेंद्र के उपन्यास महत्वपूर्ण हैं। राजस्थान के बड़े आंदोलन से जुड़े होने के कारण हरिराम मीना के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' को भी काफी चर्चा मिली है जिसे बिहारी सम्मान से नवाज़ा गया। [10,11,12]

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 7.583 | Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 11, Issue 3, May-June 2024 |

ग्लोबल गाँव के देवता और गायब होता देश:
हाल में आदिवासी विमर्श पर आधारित उपन्यासों में रणेंद्र के 'ग्लोबल गाँव के देवता' और 'गायब होता देश' की काफी चर्चा रही है और इसके आलोक में रणेंद्र एवं उनके उपन्यासों को रेणु एवं 'मैला आँचल' की परम्परा में रखकर देखा जा रहा है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' या 'गायब होता देश' पढ़ते हुए रचनाकार रणेन्द्र को भुलाये रखन संभव नहीं हो पाता है, क्योंकि इसकी बुनावट रणेन्द्र की मानसिक बुनावट से एकमेक हो गयी है।

आज आदिवासी समाज के संकट और उनके संघर्ष देश के व्यापक समाज के संकट और संघर्षों के प्रतिनिधि लगते हैं, क्योंकि आर्थिक उदारीकरण के पहले विकास की जो कीमत आदिवासी जनजातियों को देनी पड़ी, आज उसी कीमत की अपेक्षा आदिवासी सहित समाज के हाशिये पर के समूह से की जा रही है। फलतः विस्थापन एवं पुनर्वास की समस्या कहीं अधिक गहरायी है। इसी के अनुरूप 'ग्लोबल गाँव के देवता' सिर्फ आग और धातु की खोज करनेवाली और धातु पिघलाकर उसे आकार देनेवाली कारीगर असुर जाति के "जीवन का संतप्त सारांश" है क्योंकि उसे "सभ्यता, संस्कृति, मिथक और मनुष्यता सबने मारा है।" इस उपन्यास की शुरुआत "बदहाल ज़िंदगी गुज़ारती संस्कृतविहीन, भाषाविहीन, साहित्यविहीन, धर्मविहीन" असुर जनजाति के लिए इस पीड़ा से होती है- "छाती ठोंक ठोंककर अपने को अत्यन्त सहिष्णु और उदार करनेवाली हिन्दुस्तानी संस्कृति ने असुरों के लिए इतनी जगह भी नहीं छोड़ी थी। वे उनके लिए बस मिथकों में शेष थे। कोई साहित्य नहीं, कोई इतिहास नहीं, कोई अजायबघर नहीं। विनाश की कहानियों के कहीं कोई संकेत्र मात्र भी नहीं' वही उपन्यास अपने आखिर में जिस प्रश्न पर आकर अटकता है वह प्रश्न असुर संज्ञा का लोप कुछ इस भंगिमा के साथ करता है- "क्या मृत्यु का भी कोई आकर्षण है? या नियत पराजय भी आमंत्रित करती है? मैं सोचता रहता। फिर क्यों, न केवल कीकट प्रदेश के बरवे जिले में बल्कि देशके कई-कई राज्यों में हाशिया पर पड़े समुदाय संघर्षरत थे। क्या सभी अपनी अपूर्ण मृत्यु की और बढ़ रहे थे। मेरे अख़बार, पत्र-पत्रिकाएं इस तरह की कई खबरें मुझ तक पहुँचा रही थीं।" उपन्यास के अंततक आते-आते रचनाकार असुर जनजाति की इस त्रासदी को 'व्यापक समाज की त्रासदी के रूप में प्रस्तुत करता प्रतीत होता है और उनके संघर्ष को व्यापक समाज के संघर्ष के रूप में पेश करता है। उपन्यास के अंत में इसके दो मुख्य किरदार इस निष्कर्ष के साथ उपस्थित होते हैं कि "ग्लोबल गाँव के आकाशचारी देवता और राष्ट्र-राज्य दोनों एक दूसरे से घुल-मिल गये हैं। दोनों को अलगाना अब मुश्किल है। सामान्य तौर पर इन आकाशचारी देवताओं को जब अपने आकाशमार्ग से या सेटेलाइट की आँखों से छत्तीसगढ़, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, झारखंड आदि राज्यों की खनिज-संपदा, जंगल या अन्य संसाधन दिखते हैं, तो उन्हें लगता है कि अरे, इन पर तो हक हमारा है। उन्हें मालूम है कि राष्ट्र-राज्य तो वे ही हैं, तो हक तो उनका ही हुआ। सो इन खनिजों पर, जंगल में, घूमते हुए लंगोट पहने असुर-बिरजिया, उरांव-मुंडा, आदिवासी, दलित-सदान दिखते हैं, तो उन्हें बहुत कोफ्त होती है। वे इन कीड़ों-मकोड़ों से जल्द निजात पाना चाहते हैं। तब इन इलाकों में झाड़ू लगाने का काम शुरु होता है।" फिर लेखक इस कोशिश को अखिल भारतीय स्तर पर चित्रित करने के लिए अख़बार और पत्रिकाओं के हवाले इस तरह की खबरों की सिलेसिलेवार जानकारी पाठकों को उपलब्ध करवाता है।

स्पष्ट है कि इस उपन्यास की शुरुआत तो असुर समुदाय की गाथा पूरी प्रामाणिकता एवं संवेदनशीलता के साथ" बताने के वादे से होती है, लेकिन उपन्यास के अंत तक आते-आते लेखक इसे देश के "कई-कई राज्यों में, हाशिए पर पड़े समुदाय" की संघर्ष-गाथा के रुप में भी पेश करने का लोभ छोड़ नहीं पाता है। इसके लिए लेखक एक हड़बड़ी में दिखता है और आरम्भ से ही दिखती यह हड़बड़ी उपन्यास को उस रचनात्मक तनाव से वंचित रखती है जो इसे असुर जनजाति के साथ-साथ व्यापक समाज की संवेदनशील व्यथा-कथा का रूप देने के लिए आवश्यक थी। ग्लोबल गाँव के देवता की एक टेक है कि 'मुख्यधारा पूरा निगल जाने में ही विश्वास करती है' और इसने असुर समुदाय को 'संस्कृतविहीन, भाषाविहीन, साहित्यविहीन, धर्मविहीन' बना दिया है।

'ग्लोबल गाँव के देवता' के प्रकाशन के पाँच साल बाद सन् 2014 में प्रकाशित उपन्यास 'गायब होता देश' की कथा-भूमि और वैचारिक भूमि भी लगभग वही है और इसीलिए 'गायब होता देश'

को 'ग्लोबल गाँव के देवता' के विस्तार के रुप में देखा जा सकता है। इस उपन्यास के आरंभ में एक 'सोना लेकन दिसुम' नाम का स्वर्ग और इस स्वर्ग के नष्ट होने से उपजा शोक है। यहाँ पर भी स्वर्ग को नष्ट करने वाला राष्ट्र-राज्य ही है, ऐसा राष्ट्र-राज्य जिसने वैश्विक पूँजी से हाथ मिला लिया है। उपन्यास का आरंभ किशन विद्रोही की हत्या की खबर से होता है जो सोना लेकन दिसुम के गायब होने का साक्षी पत्रकार है और जिसकी हत्या की गुत्थी का सुलझना शेष है "क्योंकि ना तो कोई चैनल और ना कोई अखबार पूरी गारंटी से कहने को तैयार था कि हत्या हुई है।" किशन विद्रोही "भूमिहीन मजदूरों द्वारा मठ की जमीन को जोतने के संघर्ष में शामिल" था और उसे तब लोकनायक जेपी का आशीर्वाद भी हासिल हुआ था। इस हत्या की गुत्थी सुलझाने के क्रम में प्रशिक्षु पत्रकार राकेश के द्वारा हासिल डायरी, जेरॉक्स और अखबार के पन्नों से किशन विद्रोही की त्रासदी की कथा की शुरुआत होती है, यही त्रासदी उपन्यास में 'सोना लेकन दिसुम' के गायब होते जाने की तफ्सील भी है। यदि यह स्वर्ग नष्ट हुआ, तो इसलिए कि "इंसान थोड़ा ज्यादा समझदार हो गया। उसने विकास के नाम पर बंदरगाह बनाने, रेल की पटरियाँ बिछाने, फर्नीचर बनाने और मकान बनाने के लिए वनों की अंधाधुन्ध कटाई शुरु की। मरांग बुरुबोंगा की छाती की हर अमूल्य निधि धातु-अयस्क उसे आज ही अभी ही चाहिए था, नहीं तो उसे पिछड़ जाने का भय था। इन्हीं जरुरतों से ज्यादा समझदार इंसानों की अंधाधुन्ध उड़ान के उठे गुब्बार बवंडर में सोना लेकन दिसुम गायब होता जा रहा था।"

उपन्यासकार आदिवासी जन-जीवन के संघर्ष में ऐतिहासिक निरंतरता दिखाने के लिए जादुई लोक 'लेमुरिया' की रचना करता है: "सोमेश्वर मामू तो पंडित हैं, वो तो पूरी लंबी-चौड़ी कहानी सुनाने लगेगा लेमुरिया का। कैसे मुंडा लोगों का मूल स्थान समुद्र में समा गया और हमलोगों के पूर्वजों का ढेर ज्ञान भी बिला गया। नयं तो केतना ज्ञानी थे मुंडा लोग। धरती माता, सरना माई, सिंगबोंगा से जो भी सीखा था, उसे संजो कर रखे थे। सबकी इज्जत करना, सम्मान करना, कम से कम में संतोष करना और ज्ञान बढ़ाना यही जिंदगी का मकसद था लेमुरिया मुंडाओं का। लेकिन ताकत इक्कठ्ठा करने वाले, धन इक्टठा करने वाले उन्हें अपना दुश्मन मानते थे।··· उनकी दूसरी कोशिश थी कि सारे ज्ञान को क्रिस्टल मणि का रुप दे दिया जाय और उन्हें हीरों के रुप में धरती के अंदर छुपा दिया जाय और पानी डूब से बचने का सबसे बड़ा उपाय हमारे पूर्वजों ने किया कि धरती के ऊर्जा केंद्र से दूसरे ऊर्जा केंद्रों के बीच भूमिगत सुरंगे बनायी..।"
रणेन्द्र ने कॉर्पोरेट-पूँजी गठबंधन में दम तोड़ती पत्रकरिता के स्वरुप को उद्घाटित करते हुए बतलाया है कि जब किशनपुर एक्सप्रेस के पत्रकार के रुप में किशन विद्रोही परमवीर चक्र प्राप्त परमेश्वर पाहन की हत्या की गुत्थी सुलझाने के लिए हीराहोतु जाता है, तो उस पर ऐसी खबरों को ज्यादा तवज्जो नहीं देने, स्थानीयता में नहीं उलझने, और प्रोफेशनल लाइफ में अड़ियलपन छोड़कर समय के साथ चलने के लिए अखबार-प्रबंधन का दबाव बढ़ता है: "केके बदलो यार। समय के साथ कदम से कदम मिलाकर चलना ही बुद्धिमानी है। प्रोफेशनल लाइफ में अड़ियलपन से काम नहीं चलता। आगे दूर तक देखिए। स्थानीयता में मत उलझिए। राष्ट्रीय दृष्टि से परिघटनाओं का विश्लेषण कीजिए।" और यह भी कि "पाठक गरीबी, बदहाली,भूख, बेकारी, विस्थापन, आदिवासी-दलितों की कहानियां पढ़-पढ़कर बोर हो गया है।" [11,12]

किशन विद्रोही के माध्यम से उपन्यासकार वंचितों की व्यथा-कथा प्रस्तुत करते हुए आदिवासियों के संघर्ष की तुलना ब्रितानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय जनता के संघर्ष से करता हुआ कहता है: "लग ही नहीं रहा था कि 2000 ईस्वी में हो। लग रहा था कि 13 फरवरी 1832 हो। कप्तान इंपे की बंदूकें गोलियां बरसा रही हों। वीर बुधु भगत के साथ-साथ पूरा सिलगई शहीद हुए जा रहा हो या 9 जनवरी 1900 हो और सईल रकब पर मुंडाओं की बैठकी पर गोलियाँ बरसायी जा रही हों। गोलियाँ चल रही थीं। जिंदा हँसते-गाते इंसान शहीद हुए जा रहे थे।" इस क्रम में उपन्यासकार आदिवासियों के पहचान के आधार पर विभाजन की ओर इशारा करता है और इस विभाजन को उनके संघर्ष के बिखराव, उनके कमजोर प्रतिरोध एवं उसकी असफलता के लिए जिम्मेवार ठहरता है: "अब सौंसार आदिवासी हैं तो का, वीरेन तो मुंडा है, हम संताल हैं, उराँव हैं, खड़िया हैं, खेरवार हैं, लोहरा हैं, हम काहे को उसको लीडर मानें। हम सौंसार हैं, तो मिशन लोग के साथ नयं बैठेंगे।" उपन्यासकार इस स्थिति के लिए उनकी आर्थिक परिस्थितियों को जिम्मेवार ठहराता है: "दूसरे ही दिन सोलह फ्लैट के लिए बत्तीस

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 7.583 | Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 11, Issue 3, May-June 2024 |

ग्राहक। सबके सब आदिवासी साहब सूबा लोग ..... ऐसन लंबी-लंबी गाड़ी, सब में एतना ट्रायबल अफसर एके साथ पहली बार देख रहे थे। सौ किलो- सवा सौ किलो के भी साहब। सरनेम है तिग्गा, तिर्की, खलको, लकड़ा बाकिर कुठुख (उराँव जनजाति की भाषा) में गोठियाने लगे, तो लगा सब मुँह फाड़ के भकुआ टाईप देखने..।बाबा! हम तो सोचते थे कि हमहीं पुराना पापी हैं। समाज के गद्दार ..... खाली नामे भर के आदिवासी है ई लोग बाबा। कल रिजर्वेशन खत्म कर दीजिए, तो अपना के आदिवासी कहने में भी शरमाएगा ई लोग।"

स्पष्ट है कि 'गायब होता देश' में भी आदिवासियों के संघर्ष को एक व्यापक संघर्ष के हिस्से के रुप में देखा गया है। चन्दन श्रीवास्तव का कहना है कि "इसी वजह से उपन्यास आदिवासी जन-जीवन के बारे में कुछ भी ऐसा नहीं बता पाता जो खनन, भूमि-अधिग्रहण या फिर मानवाधिकारों के मुद्दे पर सक्रिय स्वयंसेवी संस्थाओं के प्रकाशनों अथवा आंदोलनधर्मी अखबारों/पत्रिकाओं में ना मिलता हो।" चन्दन श्रीवास्तव का कहना है कि भले ही रणेन्द्र आदिवासी समाज से परिचय और इससे सम्बंधित अपने अनुभव-संसार का दावा करें, पर 'ग्लोबल गाँव के देवता' या फिर 'गायब होता देश' में आदिवासी समाज की सरलीकृत झाँकी भर है, न कि उनकी समस्याओं की जटिलता का उद्घाटन।

एक महत्वपूर्ण प्रस्थान-बिंदु के रूप में 'धूणी तपे तीर' :

सन् 1913 ई. में राजस्थान के बाँसवाड़ा अंचल में स्थित मानगढ पहाड़ी के आदिवासियों के द्वारा सामंतों और औपनिवेशिक शक्तियों की साम्राज्यवादी मानसिकता के विरुद्ध गोविन्द गुरु के नेतृत्व में शांतिपूर्ण विद्रोह का बिगुल बजाया गया जिसने आगे चलकर औपनिवेशिक दमन की प्रतिक्रिया में हिंसक रूप अख्तियार कर लिया और जिसमें हताहतों की संख्या जलियाँवाला बाग़ कांड में हताहतों की संख्या से कई गुनी थी, लेकिन यह इतिहास के पन्नों में उपेक्षित ही रहा। लेकिन, इसने हरिराम मीणा के ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट किया और उन्होंने इसमें साहित्यिक संभावनाओं की तलाश करते हुए इसे 'धूणी तपे तीर ' उपन्यास का रूप दिया। इस उपन्यास का महत्व इस बात में है कि इसके पहले तक हिन्दी के रचनाकारों ने आदिवासियों के विद्रोह एवं उनके संघर्ष को रूमानी नज़रिए से देखा और इसमें उनका दायरा बिहार-झारखण्ड-बस्तर के विद्रोही आदिवासियों तक सीमित रहा। गोविन्द गुरु ने भीलों-मीणों के बीच कैसे जागृति फैलाई, कैसे उन्हें संगठित किया और कैसे उन बे-आवाजों को अपने हकों के लिए बोलना सिखाया व बलिदान के लिए तैयार किया, यही इस उपन्यास की अन्तर्वस्तु है। लेखक ने अतीत की इस अविस्मरणीय घटना को इसकी ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए आख्यान का रूप दिया है। उसने यह स्वीकार किया है कि "वह इतिहासविद् नहीं है, लेकिन उसने जो भी लिखा है, वह उसके निजी शोध पर आधारित है और आगे उसका प्रामाणिक इतिहास लिखना उन इतिहासकारों का कर्त्तव्य है जो हाशिए के लोगों से सच्ची हमदर्दी रखते हैं।" निश्चय ही लेखक की जनपक्षीय दृष्टि ने उसे मानगढ-काण्ड की साहित्यिक प्रस्तुति के लिए विवश किया है। लेखक ने अपने नायक के संन्यासी-व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए धर्म-गुरु गोविन्द जी की इस मानवीय भूमिका को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया है। गोविन्द गुरु स्वयं भील-मीणा समुदाय के नहीं थे, लेकिन घुमन्तू बंजारा समुदाय से आनेवाले गुरू ने स्वयं को डी-क्लास करते हुए भील-मीणों से स्वयं को एकमेक कर लिया और फिर अंधविश्वासों, रूढ़ियों, कुप्रथाओं और नशाखोरी से छुटकारा दिलाते हुए उन्हें एक प्रतिरोधी समाज में संगठित किया। उन्होंने वन-भूमि एवं वनोपजों से पर अपने परम्परागत प्राकृतिक अधिकारों के अंग्रेजों के द्वारा अतिक्रमण के विरुद्ध आवाज़ उठाई, जबरन वसूली एवं बेगार सहित सामंती एवं औपनिवेशिक शोषण के विविध रूपों के विरुद्ध आवाज़ बुलंद की और जब इनकी आवाज़ को औपनिवेशिक सत्ता के द्वारा बल-पूर्वक कुचलने की कोशिश की गयी, तो इन्होने इसके हिंसक प्रतिकार से भी परहेज़ नहीं किया। उपन्यासकार ने इन अत्याचारों का और इनके प्रतिकार में संगठित होते जनान्दोलन का तथा जनान्दोलन के निर्मम दमन का एक ऐसा कथावृत्त तैयार किया है जो पाठकों को संघर्ष एवं अंतिम विजय के लिए तैयार करता है।

लेखक ने इस उपन्यास के जरिये यह बतलाने का प्रयास किया है कि
जिस समाज को मुख्यधारा के द्वारा असभ्य समझा जाता रहा है, वह समाज एक सक्रिय एवं जीवंत समाज है और सभ्यता के आवरण को न ओढ़ने के बावजूद बहुत-सी बातों में तथाकथित सभ्य समाज से कहीं ज्यादा मानवीय भी। इस उपन्यास में लेखक ने आदिवासी-अस्मिता को वृहत्तर समाज से काटकर

देखने की बजाय शोषित-उत्पीड़ित वर्ग और शोषक वर्ग के बीच चले आ रहे पारंपरिक संघर्ष के रूप में देखा है। इसे विशुद्ध उपन्यास की बजाय सत्य वृत्तांत और आख्यान पर आधारित उपन्यास के रूप में देखा जाना चाहिए। लेखक ने इसकी भूमिका में कहा है कि "स्पष्ट है कि मनुष्य के हक की लडाई के इतिहास को मनुष्य-विरोधी शोषक-शासकों ने दबाया है और उनके आश्रय में पलने वाले इतिहासकारों ने उनका साथ दिया है।" प्रोफेसर नवल किशोर के अनुसार, "ऐसे इतिहासकारों के वर्चस्व की विरोधी जनवादी साहित्यिक परम्परा में ही इस ऐतिहासिक उपन्यास का प्रणयन हुआ है। कथावृत्त की प्रामाणिकता की अतिरिक्त चिंता के दबाव में लेखक की रचनात्मकता कुछ बँधी-बँधी-सी जरूर रही है, लेकिन इस उपन्यास को उपन्यास के बँधे-बँधाए मापदण्ड से न तौलकर एक परिधि-बाह्य समाज की एक दस्तावेजी कथा के रूप में ही अधिक लिया भी जाना चाहिए।"

निष्कर्ष

कहानी-विधा में आदिवासी कलम का कोई चर्चित कथाकार अभी तक नहीं उभरा है, फिर भी वाल्टर भेंगरा के कहानी-संग्रह 'देने का सुख' एवं 'लौटती रेखाएँ' ; आठवें दशक में पीटर पाल एक्का के प्रकाशित कहानी संग्रह 'खुला आसमान बंद दिशाएँ', 'परती जमीन' एवं 'सोन पहाड़ी'; जेम्स टोप्पो का कहानी-संग्रह 'शंख नदी भरी गेल' और मंजु ज्योत्स्ना का 'जग गयी जमीन' महत्वपूर्ण हैं। रमणिका गुप्ता के कहानी-संग्रह 'बहू जुठाई' , केदारनाथ मीणा के कहानी-संग्रह 'आदिवासी कहानियाँ' और पूनम तूषामड़ के कहानी-संग्रह 'मेले में लड़की' ने भी अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई है। यह बात अलग है कि इन पर जितनी चर्चा होनी चाहिए थी, वो नहीं हो पाई। एलिस एक्का की कहानियाँ भी 'आदिवासी' पत्रिका के पन्नों में ही सिमटी रह गयीं। रोज केरकेट्टा ने न केवल प्रेमचंद की दस कहानियों का अपनी मातृभाषा खड़िया में अनुवाद किया, वरन् 'भँवर' जैसी मजबूत कहानी लिखी। लेकिन, इसके बाद से आज तक आदिवासी कथा-लेखकों ने अपने एकल कहानी-संग्रहों के जरिये अपनी उपस्थिति दर्ज करवाने की आवश्यकता नहीं समझी, या फिर यूँ कह लें कि वे अपनी उपस्थिति दर्ज करवा पाने में असफल रहे।

स्पष्ट है कि आदिवासी समाज सदियों से जातिगत भेदों,वर्ण व्यवस्था, विदेशी आक्रमणों, अंग्रजों और वर्तमान में सभ्य कहे जाने वाले समाज (तथाकथित मुख्यधारा के लोग) द्वारा दूर-दराज जंगलों और पहाड़ों में खदेड़ा गया है। अज्ञानता और पिछड़ेपन के कारण उन्हें सताया गया है। अक्षरज्ञान न होने के कारण यह समाज सदियों से मुख्यधारा से कटा रहा, दूरी बनाता रहा। उनकी लोककला और उनका साहित्य सदियों से मौखिक रूप में रहा हैं और इसका कारण रहा उनकी भाषा के अनुरूप लिपि का विकसित न हो पाना। यही कारण साहित्य जगत में आदिवासी रचनाकार और उनका साहित्य गैर-आदिवासी साहित्य की तुलना में कम मिलता है।

आज भले ही आदिवासियों की रचनाओं में एक प्रकार की अनगढ़ता एवं खुरदरापन दिखे और कलात्मक बारीकियों के आलोक में उनका मूल्यांकन पाठकों एवं आलोचकों को निराश करता हो, पर इसका महत्व इस बात में है कि इसने मुख्यधारा के द्वारा उपेक्षित एवं तिरस्कृत आदिवासी समाज एवं उनके जीवन से व्यापक समाज को परिचित करवाने की कोशिश की।[12]

संदर्भ

[1]भारत के आदिवासी : चुनौतियाँ एवं संभावनाएं, सं. डॉ. जनक सिंह मीना, डॉ. कुलदीप सिंह मीना, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण **2017**, पृष्ठ सं.- **59**

[2]एलिस एक्का की कहानियाँ, सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पहला संस्करण **2015**, पृष्ठ सं.- **37**

[3]बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ, रोज केरकेट्टा, प्रभात प्रकाशन नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण **2017**, पृष्ठ सं.- **69**

[4]आदिवासी विमर्श, डॉ. रमेश चन्द मीणा, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण **2013**, पृष्ठ सं.- **23**

[5]बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ, रोज केरकेट्टा, प्रभात प्रकाशन नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण **2017**, पृष्ठ सं.- **13**

[6]आदिवासी विमर्श, डॉ. रमेश चन्द मीणा, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण **2013**, पृष्ठ सं.- **175**

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 7.583 | Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 11, Issue 3, May-June 2024 |

[7]आदिवासी विमर्श, डॉ. रमेश चन्द मीणा, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण **2013,** पृष्ठ सं.- **176**
[8]स्त्री महज एक पंक्ति, रोज केरकेट्टा, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, झारखण्ड, प्रथम संस्करण **2014,** पृष्ठ सं.- **95**
[9]पगहा जोरि जोरि रे घाटो, रोज केरकेट्टा, प्रभात प्रकाशन ,दिल्ली, प्रथम संस्करण **2019,** पृष्ठ सं.- **145-146**
[10]स्त्री के लिए जगह, राज किशोर, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ- **120**
[11]आदिवासी विमर्श, डॉ. रमेश चन्द मीणा, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण **2013,** पृष्ठ सं- **1**
[12]एलिस एक्का की कहानियाँ, सं. वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पहला संस्करण **2015,** पृष्ठ सं.- **40**

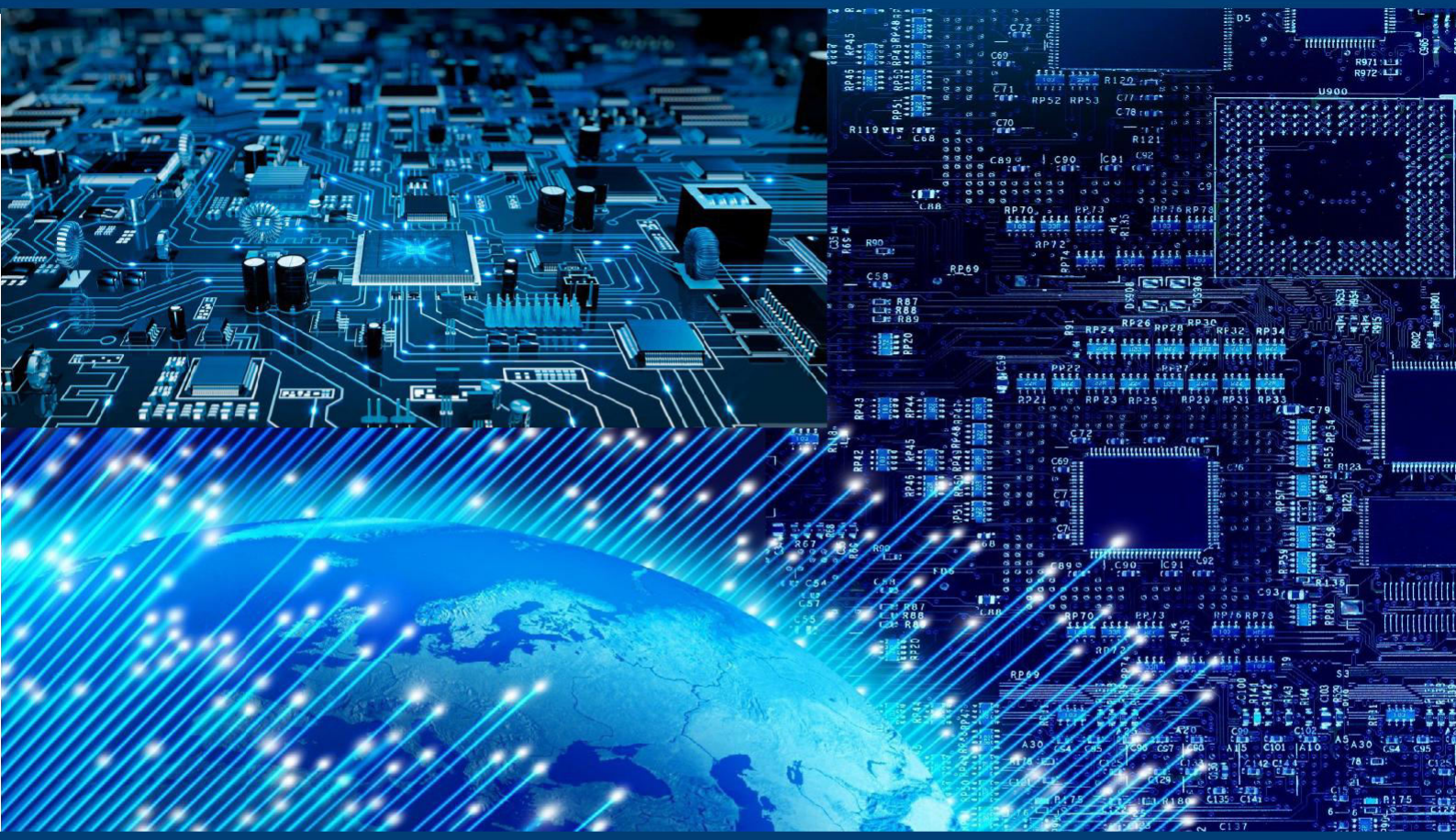

International Journal of Advanced Research in Arts, Science, Engineering & Management (IJARASEM)

| Mobile No: +91-9940572462 | Whatsapp: +91-9940572462 | ijarasem@gmail.com |